भूमिका

'पृथिवी-पुत्र' समय-समय पर लिखे हुए मेरे उन लेखों और पत्रों का संग्रह है जिनमें जनपदीय दृष्टिकोण से साहित्य और जीवन के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट किए गए थे। इस दृष्टिकोण की मूल-प्रेरणा पृथिवी या मातृभूमि के साथ जीवन के सभी सूत्रों को मिला देने से उत्पन्न होती है। 'पृथिवी-पुत्र' का मार्ग साहित्यिक कुतूहल नहीं है; यह जीवन का धर्म है। जीवन की आवश्यकताओं के भीतर से 'पृथिवी-पुत्र' भावना का जन्म होता है। 'पृथिवी-पुत्र' धर्म में इसी कारण प्रबल आध्यात्मिक स्फूर्ति छिपी हुई है। 'पृथिवी-पुत्र' दृष्टिकोण हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व और विकास की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ हमारा परिचय कराता है। नये मानव का सबसे महान् देवता पृथिवी है जिसके चरणों में वह जीवन के फूल को श्रद्धा के साथ चढ़ाता है।

पृथिवी को मातृभूमि और अपने आपको उसका पुत्र समझने का अर्थ बहुत गहरा है। यह एक दीक्षा है जिससे नया मन प्राप्त होता है। पृथिवी-पुत्र का मन मानव के लिये ही नहीं, पृथिवी से सम्बन्धित छोटे-से तृण के लिये भी प्रेम से खुल जाता है। पृथिवी-पुत्र की भावना मन को उदार बनाती है। जो अपनी माता के प्रति सच्चे अर्थों में श्रद्धावान् है वही दूसरे के मातृप्रेम से द्रवित हो सकता है। मातृभूमि को जो प्रेम करता है वह कभी हृदय की संकीर्णता को सहन नहीं कर सकता।

पृथिवी पुत्र की भावना सांस्कृतिक या आध्यात्मिक है, राजनीतिक क्षेत्र उसका एक अंशमात्र है। यावती पृथिवी तावती वेदिः—इस परिभाषा के अनुसार जितना पृथिवी का विस्तार है उतना ही उस वेदि का है जो हवि को ग्रहण करती है। मनुष्य के हृदय की वेदि उसके विचारों की हवि से तृप्त और परिपूर्ण होती है। पृथिवी-पुत्र मनुष्य की विचार-हवि से जो धूमगन्ध उठती है वह सबके लिये समान रूप से चारों ओर फैलती है।

पृथिवी-पुत्र धर्म इस समय भारतीय जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा, विचार और सांस्कृतिक जीवन की अनेक पद्धतियों में भारतवर्ष ने अबतक विदेश से जो कुछ लिया है और जो अभी लेना है, उसे अपना बनाकर जीवन में ढालने की आवश्यकता है। इस काम का सफल निर्वाह तभी होगा जब देश को आत्म संस्कृति का पता हो। 'पृथिवी-पुत्र' धर्म का उद्देश्य सबसे पहले अपने आपको जानना है। सारा राष्ट्र जब 'पृथिवी-पुत्र' की दीक्षा लेगा तभी विचार और जीवन के तन्तु निज संस्कृति की भूमि से रसग्रहण करने लगेंगे। तभी समन्वय-प्रधान संस्कृति के प्रतिनिधि उस भारतीय मानव का जन्म होगा जिसके विषय में विश्व को रुचि होगी एवं जिसके अपने लोचनों में विश्व के डोरे खिंचे होंगे।

पृथिवी-पुत्र धर्म का ही दूसरा नाम जनपदीय दृष्टिकोण है। जनपद-कल्याणकारी भावना का इन लेखों में बार-बार उल्लेख हुआ है। जनपदकल्याण के बिना हमारा सांस्कृतिक मंगल कभी सिद्ध नहीं होगा। अपने राष्ट्रीय जीवन में आज हम सर्वोदय का मंत्र लेकर जीवित-रहना चाहते हैं। जनपद-कल्याण को हम कृषीवल-संस्कृति कह सकते हैं। कृषीवल-मंगल की रथ-नाभि में हमारे जीवन के सब सूत्र जुड़े हुए हैं—

राज्ञां सत्वे असत्वे मा विशेषो नोपलक्ष्यते।
कृषीवल विनाशे तु जायते जगता विपत् ॥

क्या हुआ जो राजसत्ता यह हुई या वह? कृषीवल पृथिवी-पुत्र

को जीवन के वरदान नहीं मिले तो जग की विपत्ति बनी ही रही। अतएव जनपदीय दृष्टिकोण का पर्यवसान वहाँ है जहाँ पृथिवी की कोख से जन्म लेने वाला भौतिक सामग्री पृथिवी पर बसने वाले जन और उस जन का संस्कृति का नया ज्ञान और नया उदय हो। भूमि-जन-संस्कृति के इस त्रिकोण में जीवन का सारा रस समाया हुआ है। उसके साथ घनिष्ठ परिचय की आंख हमें अपनानी चाहिए। राष्ट्रीय उन्नति का जो महा हिमवन्त है उसतक पहुँचने का तीन पैंड मार्ग भूमि, जन और संस्कृति का सूक्ष्म परिचय है। इस परिचय के लिये प्रत्येक साहित्यिक को फेटा बांधना है। जनता के पास नेत्र हैं, लेकिन देखने की शक्ति उनमें साहित्यसेवी को भरनी है। भारतीय साहित्यसेवी का कर्तव्य इस समय कम नहीं है। उसे अपने पैरों के नीचे की दशांगुल भूमि से पृथिवी-पुत्र धर्म का सच्चा नाता जोड़कर उसी भावना और रस से सींच देना है! हमारा इतिहास, शास्त्रीय ज्ञान, वैज्ञानिक प्रयोग सभी कुछ आकाश बेल की तरह हवा में तैर रहा है। विदेशी भाषा और ज्ञान-कलेवर के विष से संस्कृति का अपना स्वरूप और रस झुलसा पड़ा है। पृथिवी-पुत्र धर्मरूपी गरुड़ यदि हमारे ज्ञानाकाश में ऊंचे उठकर अपने पंखे झाड़ेगा तभी उस अमृत की वर्षा हो सकती है जिससे जीवन का पौधा नए रस से लहलहाने लगेगा।

नई दिल्ली —वासुदेवशरण

१०-५-१९४९

विषय-सूची

पृथिवी-पुत्र

: १ :

पृथिवी-पुत्र

हिन्दी के साहित्य-सेवियों को पृथिवी-पुत्र बनना चाहिए। वे सच्चे हृदय से यह कह और अनुभव कर सकें—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्ववेद)

"यह भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।" लेखकों में यह ज्ञान न होगा तो उनके साहित्य की जड़ें मजबूत नहीं होंगी, आकाश-बेल की तरह वे हवा में तैरती रहेंगी। विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही बाहर उँडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर-जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी-साहित्यकारों को अपनी खूराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करनी चाहिए। लेखक जिस प्रकार के जीवन-रस को चूस कर बढ़ता है, उसी प्रकार की हरियाली उसके साहित्य में भी देखने को मिलेगी। आज लोक और लेखक के बीच में गहरी खाई बन गई है, उसको किस तरह पाटना चाहिए, इसपर सब साहित्यकारों को पृथक्-पृथक् और संघ में बैठ कर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी-लेखक को सबसे पहले भारत-भूमि के भौतिक रूप की शरण में जाना चाहिए। राष्ट्र का भौतिक रूप आँख के सामने है। राष्ट्र की भूमि के साथ साक्षात् परिचय बढ़ाना आवश्यक है। एक-एक प्रदेश को लेकर वहाँ की पृथिवी के भौतिक रूप का सांगोपांग अध्ययन हिन्दी-लेखकों में बढ़ना चाहिए। यह देश बहुत विशाल है; यहाँ देखने और प्रशंसा करने के लिए

2137

अतुल सामग्री है। उसका ज्ञान करते हुए हमें एक शताब्दी लग जायगी। पुराणों के महामना लेखकों ने भारत के एक-एक सरोवर, कुंड, नदी और झरने से साक्षात् परिचय प्राप्त किया और उसका नामकरण किया और उसको देवत्व प्रदान कर उसकी प्रशंसा में माहात्म्य बनाया। हिमवन्त और विन्ध्य जैसे पर्वतों के रम्य प्रदेश हमारे अर्वाचीन लेखकों के सुसंस्कृत माहात्म्य-गान की प्रतीक्षा कर रहे हैं। देश के पर्वत, उनकी ऊँची चोटियाँ, पठार और घाटियाँ सब हिन्दी के लेखकों की लेखनी का वरदान पाने की बाट देख रही हैं। देश की नदियां, वृक्ष और वनस्पति, औषधि और पुष्प, फल और मूल, तृण और लताएं, सब पृथिवी के पुत्र हैं। लेखक उनका सहोदर है। लेखक को इस विशाल जगत् में प्रवेश कर के अपने परिचयका क्षेत्र बढ़ाना चाहिए। चरक और सुश्रुत ने औषधियों के नामकरण का जो मनोरम अध्याय शुरू किया था, उसका सच्चा उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए हिन्दी के लेखक को बहुत परिश्रम करने की जरूरत है। और सबसे अधिक आवश्यक है एक नया दृष्टिकोण, जिसके बिना साहित्य में नवीन प्रेरणा की गंगा का अवतरण नहीं हुआ करता। हिन्दी के लेखकों को वनों में जा कर देश के वनचरों के साथ सम्बन्ध बढ़ाना है। वन्य पशु-पक्षी सभी उसके सगोती हैं, वे भी तो पृथिवी-पुत्र हैं। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त के ऋषि की दृष्टि, जो कुछ पृथिवी से जन्मा है, सबको पूजा के भाव से देखती है—

हे पृथिवी, जो तेरे वृक्ष, वनस्पति, शेर, बाघ आदि हिंस्र जन्तु, यहां-तक कि सांप और बिच्छू भी हैं, वे भी हमारे लिए कल्याण करने वाले हों।

पश्चिमी जगत् में पृथिवी के साथ यह सौहार्द का भाव कितना आगे बढ़ा हुआ है! भूमध्यसागर या प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए सीप और घोंघों तक की सुध-बुध वहांके निवासी पूछते हैं। भारतीय तितलियों-पर पुस्तक चाहें, तो अंग्रेजी में मिल जायगी। हमारे जंगलों में कुलाचें मारने वाले हिरनों और चीतलों के सींगों की क्या सुन्दरता है, हमारे देश की असील मुर्गों की बढ़िया नस्ल ने सुदूर ब्राज़ील देश में किस प्रकार कुश्ती मारी है,

इसका वर्णन भी अंग्रेजी में ही मिलेगा। ये सब विषय एक जीवित जाति के लेखकों को अपनी ओर खींचते हैं। क्या हिन्दी-साहित्य के कलाकार इनसे उदासीन रहकर भी कुशल मना सकते हैं? आज नहीं तो कल हमें अवश्य ही इस सामग्री को अपने उदार अंक में अपनाना पड़ेगा। यह कार्य जीवन की उमंग के साथ होना चाहिए। यही साहित्य और जीवन का सम्बंध है।

देश के गाय और बैल, भेड़ और बकरी, घोड़े और हाथी की नस्लों का ज्ञान कितने लेखकों को होगा? पालकाप्य मुनि का हस्त्यायुर्वेद अथवा शालिहोत्र का अश्व-शास्त्र आज भी मौजूद हैं, पर उनका उत्तराधिकार चाहने वाले मनुष्य नहीं रहे। मल्लिनाथ ने माघ की टीका में 'हय लीलावती' नामक ग्रंथ के उद्धरण दिये हैं, जिनसे मालूम होता है कि घोड़ों की चाल और कुदान के बारे में भी कितना बारीक विचार यहाँ किया गया था। पश्चिमी एशिया के अलअमर्ना गांव में ईसा से १४०० वर्ष पूर्व की एक पुस्तक मिली है, जिसमें अश्वविद्या का पूरा वर्णन है। उसमें संस्कृत के अनेक शब्द जैसे एकावर्तन, द्व्यावर्तन, त्र्यावर्तन, आदि घोड़ों की चाल के बारे में पाये गए हैं। उस साहित्य के दाय में हिस्सा मांगने वाले भारतवासियों की आज कमी दिखाई पड़ती है।

हमने अपने चारों ओर बसने वाले मनुष्यों का भी तो अध्ययन नहीं शुरू किया। देशी नृत्य, लोक-गीत, लोक का संगीत, सबका उद्धार साहित्य-सेवा का अंग है। एक देवेन्द्र सत्यार्थी क्या, सैकड़ों सत्यार्थी गांव-गांव घूमें, तब कहीं इस सामग्री को समेट पावेंगे। इस देश में मानो अपरिमित साहित्य-सामग्री की प्रतिक्षण वृष्टि हो रही है, उसको एकत्र करने वाले पात्रों की कमी है। लोक की रहन-सहन, वेष और आभूषण, भोजन और वस्त्र, सबका अध्ययन करना है। जनपदों की भाषाएं तो साहित्य की साक्षात् कामधेनुएं हैं। उनके शब्दों से हमारा निरुक्त-शास्त्र भरा-पुरा बनेगा। हिन्दी शब्द-निरुक्ति जनपदों की बोलियों का सहारा लिये बिना चल ही नहीं सकती। जनपदों की बोलियां कहावतों और मुहावरों की खान हैं। हम चुस्त राष्ट्रभाषा बनाने के लिए तरस रहे हैं, पर उसकी जो खानें हैं उनको खोद-

कर सामग्री प्राप्त करने की ओर हमने अभी तक ध्यान नहीं दिया। हिन्दी-भाषा की तीन हजार धातुओं को यदि ठीक तरह ढूँढ़ा जाय, तो उनकी सेवा से हमें भाषा के लिए क्या-क्या शब्द नहीं मिल सकते? पर हमारा धातु-पाठ कहां है? वह हिन्दी के पाणिनि की बाट देख रहा है। खेल और क्रीड़ाएं क्या राष्ट्रीय-जीवन के अंग नहीं हैं? मेले, पर्व और उत्सव सभी हमारी पैनी दृष्टि के अन्तर्गत आ जाने चाहिएँ। इन आंखों को लेकर जब हम अपने लोक के आकाश में ऊंचे उठेंगे, तब सैकड़ों-हजारों नई चीजों को देखने की योग्यता हमारे पास स्वयं आ जायगी।

भारत के साहित्यकार, विशेषतः हिन्दी के साहित्य-मनीषियों को चाहिए कि इस नवीन दृष्टिकोण को अपनाकर साहित्य के उज्ज्वल भविष्य का साक्षात् दर्शन करें। दर्शन ही ऋषित्व है। ऋषियों की साधना के बिना राष्ट्र या उसके साहित्य का जन्म नहीं होता।

: २ :

पृथिवी सूक्त—एक अध्ययन

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त (१२।१।१–६३) में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीयजन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मंत्रों में पृथिवी की प्रशस्त वंदना है, और संस्कृति के विकास तथा स्थिति के जो नियम हैं उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पाई जाती है। स्वर्ण का वेश पहने हुए शब्दों को कवि ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है। कवि को भूमि सब प्रकार से महती प्रतीत होती है; 'सुमनस्यमाना' कहकर वह अपने प्रति भूमि की अनुकूलता को प्रकट करता है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भाव से दुग्धका विसर्जन करती है उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्वती धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। कल्याण-परंपरा की विधात्री मातृभूमि के स्तोत्र-गान और वंदना में भावों के वेग से कवि का हृदय उमंग पड़ता है। उसकी दृष्टि में यह भूमि कामदुघा है। हमारी समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है। कवि की दृष्टि में पृथिवी रूपी सुरभि के स्तनों में अमृत भरा हुआ है। इस अमृत को पृथिवी की आराधना से जो पी सकते हैं वे अमर हो जाते हैं। मातृभूमि की पोषण-शक्ति

अनंत है। वह विश्वम्भरा है। उसके विश्वधायस् (२७)[1] रूप को प्रणाम है।

मातृभूमि का हृदय—स्थूल नेत्रों से देखने वालों के लिए यह पृथिवी शिलाभूमि और पत्थर-धूलि का केवल एक जमघट है। किंतु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है, वे ही भूमि के हृदय को देख पाते हैं। उन्हींके लिए मातृभूमि का अमर रूप प्रकट होता है। किसी देवयुग में यह भूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। जब मनीषियों ने ध्यानपूर्वक इसका चिंतन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मन के द्वारा ही पृथिवी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है। विश्व में ज्ञान का जो सर्वोच्च स्रोत है, वहीं यह हृदय है। यह हृदय सत्य से घिरा हुआ और अमर है। (यस्याः हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः)। हमारी संस्कृति में सत्य का जो प्रकाश है उसका उद्गम मातृभूमि के हृदय से ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होने के लिए धर्म का रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक हैं। पृथिवी धर्म के बल से टिकी हुई है (धर्मणा धृता)। महासागर से बाहर प्रकट होने पर जिस तत्त्व के आधार पर यह पृथिवी आश्रित हुई, कवि की दृष्टि में वह धारणात्मक तत्त्व धर्म है। इस प्रकार के धारणात्मक महान् धर्म को पृथिवी के पुत्रों ने देखा और उसे प्रणाम किया—नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (महाभारत, उद्योगपर्व)। सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति-का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की ही व्याख्या है। जिस युग में सत्य का रूप विक्रम से संयुक्त होकर सुनहले तेज से चमकता है, वही संस्कृति का स्वर्ण-युग होता है। कवि की अभिलाषा है—"हे मातृभूमि, तुम हिरण्य के संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी सुनहली प्ररोचनाओं को हम देखना चाहते हैं, (सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि, १८)।

---

१ कोष्ठक के अंक सूक्तांतर्गत मंत्रों के अंक हैं।

युग विशेष में राष्ट्रीय महिमा की नाप यही है कि उस युग की संस्कृति में सुवर्ण की चमक है या चांदी या लोहे की। हिरण्य संदर्शन या स्वर्णयुग ही संस्कृति की स्थायी विजय के युग हैं।

पुराकाल में मनीषी ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से मातृभूमि के जिस रूप को प्रत्यक्ष किया था, वह प्रत्यक्ष करने का अध्याय अभी तक जारी है। आज भी चिंतन से युक्त मनीषी लोग नए-नए क्षेत्रों में मातृभूमि के हृदय के नूतन सौंदर्य, नवीन आदर्श और अछूते रस का आविष्कार किया करते हैं। जिस प्रकार सागर के जल से बाहर पृथिवी का स्थूल रूप प्रकाश में आया, उसी प्रकार विश्व में व्याप्त जो ऋत है, उसके अमूर्त भावों को मूर्त रूप-में प्रकट करने की प्रक्रिया आज भी जारी है। दिलीप के गोचारण की तरह मातृभूमि के ध्यानी पुत्र उसके हृदय के पीछे चलते हैं (यां मायाभिरन्व-चरन्मनीषिणः, १८); और उसकी आराधना से अनेक नए वरदान प्राप्त करते हैं। यह विश्व ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ कहा गया है। ऊर्ध्व के साथ ही पृथिवी के हृदय का सम्बंध है। इसी कारण मातृभूमि के साथ तादात्म्य भाव की प्राप्ति ऊर्ध्वस्थिति या अध्यात्म-साधना का रूप है। भारतीय दृष्टि से मातृ-भूमि का प्रेम और अध्यात्म—इन दोनों का यही समन्वय है।

मातृभूमि का स्थूल विश्वरूप—पृथिवी का जो स्थूल रूप है, वह भी कुछ कम आकर्षण की वस्तु नहीं है। भौतिक रूप में श्री या सौंदर्य का दर्शन नेत्रों-का परम लाभ है और उसका प्रकाश एक दिव्य विभूति है। इस दृष्टि से जब कवि विचार करता है तब उसे पृथिवी पर प्रत्येक दिशा में रमणीयता दिखाई पड़ती है (आशामाशां रण्याम, ४३)। वह पृथिवी को विश्वरूपा कहकर संबोधित करता है। पर्वतों के उष्णीष से सज्जित और सागरों की मेखला से अलंकृत मातृभूमि के पुष्कल स्वरूप में कितना सौंदर्य है! विभिन्न प्रदेशों में पृथक्-पृथक् शोभा की कितनी मात्रा है?—इसको पूरी तरह पहचान-कर प्रसिद्ध करना राष्ट्रीय कर्तव्य का आवश्यक अंग है। प्राकृतिक शोभा के स्थलों से जितना ही हम अधिक परिचित होते हैं, मातृभूमि के प्रति उतना ही हमारा आकर्षण बढ़ता है। भूमि के स्थूल रूप की श्री को देखने के लिए

हमारे नेत्रों का तेज सौ वर्ष तक बढ़ता रहे, और उसके लिए हमें सूर्य की मित्रता प्राप्त हो (३२)।

चारों दिशाओं में प्रकाशित मातृभूमि के चतुरस्रशोभी शरीर को जाकर देखने के लिए हमारे पैरों में संचरणशीलता होनी चाहिए। चलने से ही हम दिशाओं के कल्याणों तक पहुंचते हैं (स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, ३१)। जिस प्रदेश में जनता की पदपंक्ति पहुँचती है, वही तीर्थ बन जाता है। पद-पंक्तियों के द्वारा ही मातृभूमि के विशाल जनायन पंथों का निर्माण होता है, और यात्रा के बल से ही रथों के वर्त्म और शकटों के मार्ग भूमि पर बिछते हैं (ये ते पंथा बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे, ४७)। चंक्रमण के प्रताप से पूर्व और पश्चिम में तथा उत्तर और दक्षिण में पथों का नाड़ी-जाल फैल जाता है। पर्वतों और महाकांतारों की भूमियाँ युवकों के पद-संचार से परिचित होकर सुशोभित होती हैं। 'चारिकं चरित्वा' का व्रत धारण करने वाले चरक-स्नातक पुरों और जनपदों में ज्ञान-मंगल करते हैं और मातृभूमि की समग्र शोभा का आविष्कार करते हैं।

आरंभिक भू-प्रतिष्ठा के दिन हमारे पूर्वजों ने मातृभूमि के स्वरूप का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। उसके उन्नत प्रदेश, निरंतर बहने वाली जल-धाराएं और हरे-भरे समतल मैदान—इन्होंने अपनी रूप-संपदा से उनको आकृष्ट किया (यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु, २)। छोटे गिरि-जाल और हिमराशि का श्वेतमुकुट बांधे हुए महान् पर्वत पृथिवी को टेके खड़े हैं। उनके ऊंचे शृङ्गों पर शिलाभूत हिम, अधित्यकाओं में सरकते हुए हिमश्रथ या बर्फानी गल, उनके मुख या बांक से निकलने वाली नदियां और तटांत में बहने वाली सहस्रों धाराएं, पर्वत-स्थली और द्रोणी, निर्झर और झूलती हुई नदी की तलहटियाँ, शैलों के दारण से बनी हुई दरी और कंदराएं, पर्वतों के पार जाने वाले जोत और घाटे—इन सबका अध्ययन भौमिक-चैतन्य का एक आवश्यक अंग है। सौभाग्य से विश्वकर्मा ने जिस दिन अपनी हवि से हमारी भूमि की आराधना की उस दिन ही उसमें पर्वतीय अंश पर्याप्त मात्रा में रख दिया था। भूमि का तिलक करने के लिए मानो

विधाता ने सबसे ऊँचे पर्वत-शिखर को स्वयं उसके मुकुट के समीप रखना उचित समझा। इतिहास साक्षी है कि इन पर्वतों पर चढ़ कर हमारी संस्कृति का यश हिमालय के उस पार के प्रदेशों में फैला। पर्वतों की सूक्ष्म छानबीन भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता रही है, जिसका प्रमाण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि देवयुगों में पर्वत सागर के अंतस्तल में सोते थे। तृतीयक युग (Tertiary Era) के आरंभ में लगभग चार करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय भूगोल में बड़ी चकनाचूर करने वाली घटनाएं घटीं। बड़े-बड़े भू-भाग विलट गए, पर्वतों की जगह समुद्र और समुद्रों की जगह पर्वत प्रकट हो गए। उसी समय हिमालय और कैलाश भू-गर्भ से बाहर आए। उससे पूर्व हिमालय में एक समुद्र या पाथोधि था, जिसे वैज्ञानिक 'टेथिस्' का नाम देते हैं। जो हिमालय इस अर्णव के नीचे छिपा था, उसे हम अपनी भाषा में पाथोधि हिमालय (=टेथिस् हिमालय) कह सकते हैं। जबसे पाथोधि हिमालय का जन्म हुआ, तभीसे भारत का वर्तमान रूप या ठाठ स्थिर हुआ। पाथोधि हिमालय और कैलाश के जन्म की कथा और चट्टानों के ऊपर नीचे जमे हुए परतों को खोलकर इन शैल-सम्राटों के दीर्घ आयुष्य और इतिहास का अध्ययन जिस प्रकार पश्चिमी विज्ञान में हुआ है, उसी प्रकार इस शिलीभूत पुरातत्त्व के रहस्य का उद्घाटन हमारे देशवासियों को भी करना आवश्यक है। हिमालय के दुर्धर्ष गंडशैलों को चीर कर यमुना, जाह्नवी, भागीरथी, मंदाकिनी और अलकनंदा ने केदारखंड में, तथा सरयू-काली-कर्णाली ने मानसखंड में करोड़ों वर्षों के परिश्रम से पर्वतों के दले हुए गंगलोढ़ों को पीस-पीसकर महीन किया है। उन नदियों के विक्रम के वार्षिक ताने-बाने से यह हमारा विस्तृत समतल प्रदेश अस्तित्व में आया है। विक्रम-के द्वारा ही मातृभूमि के हृदय-स्थानीय मध्यदेश को पराक्रमशालिनी गंगा ने जन्म दिया है। इसके लिए गंगा को जितना भी पवित्र और मंगल्य कहा जाय कम है। कवि कहता है कि पत्थर और धूलि के पारस्परिक संग्रथन से यह भूमि संधृत हुई है (भूमिः संधृता धृता, २६)। चित्र-विचित्र शालाओं-

से निर्मित भूरे, काली और लाल रंग की मिट्टी पृथिवी के विश्वरूप की परिचायक है (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिम्, ११)। यही मिट्टी वृक्ष-वनस्पति ओषधियों को उत्पन्न करती है, इसीसे पशुओं और मनुष्यों के लिए अन्न उत्पन्न होता है। मातृभूमि की इस मिट्टी में अद्भुत रसायन है। पृथिवी से उत्पन्न जो गंध है वही राष्ट्र की विशेषता है और पृथिवी से जन्म लेने वाले समस्त चराचर में पाई जाती है। मिट्टी और जल से बनी हुई पृथिवी में प्राण की अपरिमित शक्ति है। इसीलिये जिस वस्तु का और विचार का सम्बंध भूमि से हो जाता है वही नवजीवन प्राप्त करता है।

हमारे देश में ऊंचे पर्वत और उनपर जमी हुई हिमराशि है, यहां प्रचंड वेग से चलती हुई वायु उन्मुक्त वृष्टि लाती है। कवि को यह देखकर प्रसन्नता होती है कि अपने उपयुक्त समय पर धूल को उड़ाती हुई और पेड़ों को उखाड़ती हुई मातरिश्वा नामक आंधी एक ओर से दूसरी ओर को बहती है। इस दुर्धर्ष वात के बवंडर जब ऊपर-नीचे चलते हैं तब बिजली कड़कती है और आकाश कौंध से भर जाता है—

यस्यां वातो मातरिश्वा ईयते रजांसि कृण्वन् च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनुवाति अर्चिः, ५१।

जिस देश का आकाश तड़ित्वंत मेघों से भरता है वहां भूमि वृष्टि से ढक जाती है।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता, ५२।

प्रतिवर्ष संचित होने वाले मेघजालों के उपकार का स्मरण करते हुए कवि ने पर्जन्य को पिता (१२) और भूमि को पर्जन्यपत्नी (४२) कहा है।

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे।

'पर्जन्य की पत्नी भूमि को प्रणाम है, जिसमें वृष्टि मेद की तरह भरी है।' मेघों की यह वार्षिक विभूति जहां से प्राप्त होती है उन समुद्रों और सिंधुओं का भी कवि को स्मरण है। अन्न से लहलहाते हुए खेत, बहने वाले जल और महासागर—इन तीनों का घनिष्ठ सम्बंध है (यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो

यस्यामन्नम् कृष्टयः संबभूवुः, ३)। दक्षिण के गर्जनशील महासागरों के साथ हमारी भूमि का उतना ही अभिन्न सम्बंध समझना चाहिए जितना कि उत्तर के पर्वतों के साथ। 'ये दोनों एक ही धनुष की दो कोटियां हैं। इसीलिये रमणीय पौराणिक कल्पना में एक सिरे पर शिव और दूसरे पर पार्वती हैं। धनुष्कोटि के समीप ही महोदधि और रत्नाकर के संगम की अधिष्ठात्री देवी पार्वती कन्याकुमारी के रूप में आज भी तप करती हुई विद्यमान हैं।

कुमारिका से हिमालय तक फैले हुए महाद्वीप में निरंतर परिश्रम करती हुई देश की नदियों और महानदियों की ओर से सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है। इस सूक्त में कवि ने नदियों के संतत विक्रम का अत्यन्त उत्साह से वर्णन किया है—

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ९

'जिसमें गतिशील व्यापक जल रात-दिन बिना प्रमाद और आलस्य के बह रहे हैं, वह भूमि उन अनेक धाराओं को हमारे लिए दूध में परिणत करे और हमको वर्चस से सींचे।' कवि की वाणी सत्य है। मेघों से और नदियों से प्राप्त होने वाले जल खेतों में खड़े हुए धान्य के शरीर या पौधों में पहुंच कर दूध में बदल जाते हैं और वह दूध ही गाढ़ा होकर जौ, गेहूँ और चावल के दानों के रूप में जम जाता है। खेतों में जाकर यदि हम अपने नेत्रों से इस क्षीरसागर को प्रत्यक्ष देखें तो हमें विश्वास होगा कि हमारे धनधान्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी इसी क्षीरसागर में बसती है। यही दूध अन्न रूप से मनुष्यों में प्रविष्ट होकर वर्चस् और तेज को उत्पन्न करता है। कवि की दृष्टि में पृथ्वी के जल विश्वव्यापी (समानी, ९) हैं। आकाश स्थित जलों से ही पार्थिव जल जन्म लेते हैं। हिमालय की चोटियों पर और गंगा में उतरने से पूर्व गंगा के दिव्य जल आकाश में विचरते हैं। वहां पार्थिव सीमाभाव की लकीरें उनमें नहीं होतीं। कौन कह सकता है कि किस प्रकार पृथ्वी पर आने से पूर्व आकाश में स्थित जल हिमालय के और कैलाश के शृङ्गों की कहां-कहां परिक्रमा करते हैं? भारतीय कवि गंगा के

स्रोत को ढूंढ़ते हुए चतुर्गङ्गम् और सप्तगंगम् धाराओं से कहीं ऊपर उठ कर उन दिव्य जलों[1] तक पहुंच कर द्यु लोक में गंगा का प्रभवस्थान मानते हैं। उनके व्यापक दृष्टिकोण के सम्मुख स्थूल पार्थक्य के भाव नहीं ठहरते।

भूमि के पार्थिव रूप में उसके प्रशंसनीय अरण्य भी हैं। कृषि-संपत्ति और वन-संपत्ति, वनस्पति जगत् के ये दो बड़े विभाग हैं। यह पृथिवी दोनों की माता है। एक ओर इसके खेतों में अथक परिश्रम करने वाले (क्षेत्रे यस्या विकुर्वते, ४६) इसके बलिष्ठ पुत्र भांति-भांति के व्रीहि-यवादिक अन्नों को उत्पन्न करते हैं। (यस्यामन्नं व्रीहियवौ, ४२) और लहलहाती हुई खेती (कृष्टयः ३) को देख कर हर्षित होते हैं; दूसरी ओर वे जंगल और कांतार हैं जिनमें अनेक प्रकार की वीर्यवती औषधियां उत्पन्न होती हैं (नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति, २) यह पृथिवी साक्षात् ओषधियों की माता है, (विश्वस्वम् मातरमोषधीनाम्, १७)। वर्षा ऋतु में जब जल से भरे हुए मेघ आकाश में गरजते हैं तब औषधियों की बाढ़ से पृथिवी का शरीर ढक जाता है। उस विचित्र वर्ण के कारण पृथिवी की एक संज्ञा पृश्नि कही गई है। वे ओषधियां षड्ऋतुओं के चक्र में परिपक्व होकर जब मुरझा जाती हैं तब उनके बीज फिर पृथिवी में ही समा जाते हैं। पृथिवी उन बीजों को संभाल कर रखने वाली धात्री है (गृभिः ओषधीनाम्,५७)। समतल मैदान और हिमालय आदि पर्वतों के उत्संग में स्वच्छन्द हवा और खुले आकाश के नीचे वातातपिक जीवन बिताने वाली इन असंख्य औषधियों की इयत्ता कौन कह सकता है? इन्द्र धनुष के समान सात रंग के पुष्प खिल कर सूर्य की धूप में हंसती हुई जब हम इन्हें देखते हैं तब हमारा हृदय आनंद से भर जाता है। शंखपुष्पी का छोटा-सा हरित तृण श्वेत पुष्प का मुकुट धारण किये हुए जहां विकसित होता है वहां धूप में एक मंगल-सा जान पड़ता है। ब्राह्मी, रुद्रवंती, स्वर्णक्षीरी, सौपर्णी, शंखपुष्पी इन के नामकरण का जो मनोहर अध्याय हमारे देश के

---

१ एरियल वाटर्स।

निघंटु-वेत्ताओं ने आरंभ किया था, उसकी कला अद्वितीय है। एक-एक ओषधि के पास जाकर उसके मूल और कांड से, पत्र और पुष्प से, केसर और पराग से उसके जीवन का परिचय और कुशल पूछ कर उसके लिए भाषा के भंडार में से एक-एक भव्य-सा नाम चुना गया। इन ओषधियों में जो गुण भरे हुए हैं उनके साथ हमारे राष्ट्र को फिरसे परिचित होने की आवश्यकता है।

वृक्ष और वनस्पति पृथिवी पर ध्रुव भाव से खड़े हैं (यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा, २७)। यों देखने में प्रत्येक की आयु काल से परिमित है, किंतु उनका बीज और उनकी नस्ल हमेशा जीवित रहती हैं। यही उनका पृथिवी के साथ स्थायी सम्बंध है। करोड़ों वर्षों से विकसित होते हुए वनस्पति-जगत् के ये प्राणी वर्तमान जीवन तक पहुंचे हैं, और इसके आगे भी ये इसी प्रकार बढ़ते और फलते-फूलते रहेंगे। इसी भूमि पर उन्नत भाव से खड़े हुए जो महावृक्ष हैं उनको यथार्थतः वन के अधिपति या वानस्पत्य नाम दिया जा सकता है। देवदारु और न्यग्रोध, आम्र और अश्वत्थ, उदुंबर और शाल—ये अपने यहां के कुछ महाविटप हैं। महावृक्षों की पूजा और उनको उचित सम्मान देना हमारा परम कर्तव्य है। जहां महावृक्षों को आदर नहीं मिलता वहांके अरण्य क्षीण हो जाते हैं। सौ फुट ऊँचे और तीस फुट घेरे वाले अत्यन्त प्रांशु केदार और देवदारुओं को हिमालय के उत्संग में देखकर जिन लोगों ने श्रद्धा के भाव से उन वनस्पतियों को शिव के पुत्र के रूप में देखा, वे सचमुच जानते थे कि वनस्पति संसार कितने उच्च सम्मान का अधिकारी है। केदार वृक्षों के निकट बसने के कारण स्वयं शिव ने केदारनाथ नाम स्वीकार किया। आज अनवधान के कारण हम अपने इन वानस्पत्यों को देखना भूल गए हैं। तभी हम उस मालभन्न लता की शक्ति से अनभिज्ञ हैं, जो सौ-सौ फुट ऊँचे उठकर हिमालय के बड़े-बड़े वृक्षों को अपने बाहुपाश में बांध लेती है। आज वनस्पति जगत् के प्रति 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' के प्रश्नों के द्वारा हमें अपने चैतन्य को फिर से झकझोरने की आवश्यकता है। जहां फूले हुए शालवृक्षों के नीचे शाल-

मंजिका क्रीड़ाओं का प्रचार किया गया, जहां उदीयमान नारी-जीवन के सरस मन से वनस्पति-जगत् को तरंगित करने के लिए अशोक-दोहद जैसे विनोद कल्पित किए गये, वहां मनुष्य और वनस्पति-जगत् के सख्य-भाव को फिर से हरा-भरा बनाने की आवश्यकता है। पुष्पों की शोभा से वन-श्री का विलक्षण ही शृङ्गार होता है। देश में पुष्पों के संभार से भरे हुए अनेक वन-खंड और वाटिकाएं हैं। कमल हमारे सब पुष्पों में एक निराली शोभा रखता है, वह मातृभूमि का प्रतीक ही बन गया है। इसीलिए पुष्पों में कवि ने कमल का स्मरण किया है। वह कहता है—हे भूमि, तुम्हारी जो गंध कमल में बसी हुई है (यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश, २४) उस सुगंध से मुझे सुरभित करो।

इस पृथिवी पर द्विपद और चतुष्पद (पशु-पक्षी) दोनों ही निवास करते हैं। आकाश की गोद में भरे हुए हंस और सुपर्ण व्योम को प्राणमय बनाते हैं (यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि, ५१)। प्रतिवर्ष मानसरोवर की यात्रा करने वाले हमारे हंसों के पंख कितने सशक्त हैं? आकाश में वज्र की तरह टूटने वाले दृढ़ और बलिष्ठ सुपर्णों को देखकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। मनुष्यों के लिये भी जो वन अगम हैं उनमें पशु और पक्षी चहल-पहल रखते हैं। उनके सुरीले कंठ और सुन्दर रंगों को देखकर हमें शब्द और रूप की अपूर्व समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है।

भूमि पर रहने वाली पशु-संपत्ति भी भूमि के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना कि स्वयं मनुष्य। कवि की दृष्टि में यह पृथिवी गौओं और अश्वों का बहुविध स्थान है (गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा, ५)। देश में जो गो-धन है, उसकी जो नस्लें सहस्रों वर्षों से दूध और घी से हमारे शरीरों को सींचती आई हैं, उनके अध्ययन, रक्षा और उन्नति में दत्त-चित्त होना राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। गोधन के जीर्ण होने से जनता के अपने शरीर भी क्षीण हो जाते हैं। गौओं के प्रति अनुकूलता और सौमनस्य का भाव मानुषी शरीर के प्रत्येक अणु को अन्न और रस से तृप्त रखता है। सिंधु, कंबोज और सुराष्ट्र

के जो तुरंगम दीर्घ युगों तक हमारे साथी रहे हैं उनके प्रति उपेक्षा करना हमें शोभा नहीं देता। इस देश के साहित्य में अश्व-सूत्र और हस्तिसूत्र की रचना बहुत पहले हो चुकी थी। पश्चिमी एशिया के अमर्ना स्थान में आचार्य किक्कुलि का बनाया हुआ अश्व-शास्त्र सम्बंधी एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है जो विक्रम से भी पन्द्रह शताब्दी पूर्व का है। इसमें घोड़ों की चाल और कुदान के बारे में एकावर्तन, त्र्यावर्तन, पंचावर्तन, सप्तावर्तन सदृश अनेक संस्कृत शब्दों के रूपान्तर प्रयुक्त हुए हैं।

जो व्याघ्र और सिंह कांतारों की गुफाओं में निर्द्वन्द्व विचरते हैं, उनकी ओर भी कवि ने ध्यान दिया है। यह पृथिवी वनचारी शूकर के लिए भी खुली है, सिंह और व्याघ्र जैसे पुरुषाद आरण्य पशु यहां शौर्य-पराक्रम के उपमान बने हैं(४८)। पशु और पक्षी किस प्रकार पृथिवी के यश को बढ़ाते हैं इसका इतिहास साक्षी है। भारतवर्ष के मयूर प्राचीन बावेरु (बेबीलन) तक जाते थे (बावेरु जातक)। प्राचीन केकय देश (आधुनिक शाहपुर, झेलम) के राजकीय अंतःपुर में कराल दाढ़ों वाले महाकाय कुत्तों की एक नस्ल व्याघ्रों के वीर्य-बल से तैयार होती थी, जिसकी कीर्ति यूनान और रोम तक प्राचीनकाल में पहुँची थी। लैम्पसकस(एशिया माइनर)से प्राप्त भारत-लक्ष्मी की चांदी की तश्तरी पर इस बघेरी नस्ल के कुत्तों का चित्रण पाया गया है। कुत्तों की यह भीम जाति आज भी जीवित है और राष्ट्रीय कुशल-प्रश्न और दाय में भाग पाने के लिए उत्सुक है। विषैले सर्प और तीक्ष्ण डंक वाले बिच्छू हेमन्त ऋतु में सर्दी से ठिठुर कर गुम-सुम बिलों में सोये रहते हैं। ये भी पृथिवी के पुत्र हैं। जितनी लखचंरानी वर्षा ऋतु में उत्पन्न होकर सहसा रेंगने और उड़ने लगती हैं उनके जीवन से भी हमें अपने कल्याण की कामना करनी है (४६)। एक-एक मशक-दंश के कुपित होने से समाज में प्रलय मच जाता है।

ऊपर कहे हुए पार्थिव कल्याणों से संपन्न मातृभूमि का स्वरूप अत्यन्त मनोहर है। उसके अतिरिक्त स्वर्ण, मणिरत्न आदिक निधियों ने उसके रूप-मंडन को और भी उत्तम बनाया है। रत्न-प्रसू, रत्नधात्री यह पृथिवी

'वसुधानी' है, अर्थात् सारे कोषों का रक्षा-स्थान है। उसकी छाती में अनंत सुवर्ण भरा हुआ है। हिरण्यवक्षा भूमि के इस अपरिमित कोष का वर्णन करते हुए कवि की भाषा अपूर्व तेज से चमक उठती है—

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ॥२॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

विश्व का भरण करने वाली, रत्नों की खान, हिरण्य से परिपूर्ण, हे मातृभूमि, तुम्हारे ऊपर एक संसार ही बसा हुआ है। तुम सबकी प्राण-स्थिति का कारण हो।

अपने गूढ़ प्रदेशों में तुम अनेक निधियों का भरण करती हो। रत्न, मणि और सुवर्ण की तुम देने वाली हो। रत्नों का वितरण करनेवाली वसुधे, प्रेम और प्रसन्नता से पुलकित होकर हमारे लिए कोषों को प्रदान करो।

अटल खड़ी हुई अनुकूल धेनु के समान, हे माता, तुम सहस्रों धाराओं से अपने द्रविण का हमारे लिए दोहन करो। तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष अक्षय्य निधियों से भरे-पुरे रहें। उनमें किसी प्रकार किसी कार्य के लिये कभी न्यूनता न हो।

हिरण्यवक्षा पृथिवी के इस आभामय सुनहले रूप को कवि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (२६)

पृथिवी के साथ संवत्सर का अनुकूल सम्बंध भी हमारी उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कवि ने कहा है—

हे पृथिवी, तुम्हारे ऊपर संवत्सर का नियमित ऋतुचक्र घूमता है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत, शिशिर, और वसंत का विधान अपने-अपने कल्याणों को प्रति वर्ष तुम्हारे चरणों में भेंट करता है। धीर गति से अग्रसर होते हुए तुम्हारे दिन-रात नित्य नये दुग्ध का प्रस्रवण करते हैं।' पृथिवी के प्रत्येक संवत्सर की कार्य-शक्ति का वार्षिक लेखा कितना अपरिमित

है। उसकी दिनचर्या और निज वार्ता अहोरात्र के द्वारा ऋतुओं में और ऋतुओं के द्वारा संवत्सर में आगे बढ़ती है। पुनः संवत्सर उस विक्रम का कथा को महाकाल के प्रवर्तित चक्र को भेंट करता है। संवत्सर का इतिहास नित्य है। वसंत ऋतु के किस क्षण में किस पुष्प को, हे पृथिवी, तुम रंगों की तूलिका से सजाती हो, और किस ओषधि में तुम्हारे अहोरात्र और ऋतुएं अपना दुग्ध किस समय जमा करती हैं; पंख फैला कर उड़ती हुई तुम्हारी तितलियां किस ऋतु में कहां-से-कहां जाती हैं; किस समय क्रौंच पक्षी कलरव करती हुई पंक्तियों में मानसरोवर से लौट कर तुम्हारे खेतों में मंगल करते हैं; किस समय तीन दिन तक बहने वाला प्रचंड फगुन-हटा वृक्षों के जीर्ण-शीर्ण पत्तों को धराशायी बना देता है; और किस समय पुरवाई आकाश को मेघों की घटा से छा देती है?—इस ऋतु-विज्ञान की तुम्हारी रोमहर्षण रहस्यवार्ता को जानने की हममें नूतन अभिरुचि हुई है।

जन

भूमि पर जन का सन्निवेश बड़ी रोमांचकारी घटना मानी जाती है। किसी पूर्व युग में जिस जन ने अपने पद इस पृथिवी पर टेके उसीने यहां भू-प्रतिष्ठा[1] प्राप्त की, उसीके भूत और भविष्य की अधिष्ठात्री यह भूमि है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी। (१)

पृथिवी पर सर्वप्रथम पैर टेकने का भाव जन के हृदय में गौरव

---

१ भू-प्रतिष्ठा, भू-मापन, प्रारम्भिक युग में भूमि पर जन के सन्निवेश की संज्ञा है जिसे अंग्रेजी में लैंडटेकिंग कहा जाता है। आइसलैंड की भाषा के अनुसार 'लैंड-टेकिंग, के लिए 'लैंड नामा' शब्द है। डा० कुमारस्वामी ने ऋग्वेद को 'लैंडनामाबुक' कहा है क्योंकि ऋग्वेद प्रत्येक क्षेत्र में आर्य जाति की 'भू-प्रतिष्ठा' का ग्रन्थ है। पूर्वजनों के द्वारा भू-प्रतिष्ठा (पृथ्वी पर पैर टेकना) सब देशों में एक अत्यन्त पवित्र घटना मानी जाती है। [देखिए कुमारस्वामी, ऋग्वेद ऐज़ लैंड नाना बुक, पृष्ठ ३४]

उत्पन्न करता है। जन की ओर से कवि कहता है—मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सबसे पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (११)

उस भू-अधिष्ठान के कारण भूमि और जन के बीच में एक अंतरंग सम्बंध उत्पन्न हुआ। यह सम्बन्ध पृथिवी सूक्त के शब्दों में इस प्रकार है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है, और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।' भूमि के साथ माता का सम्बन्ध जन या जाति के समस्त जीवन का रहस्य है। जो जन भूमि के साथ इस सम्बंध का अनुभव करता है वही माता के हृदय से प्राप्त होने वाले कल्याणों का अधिकारी है, उसीके लिये माता दूध का विसर्जन करती है।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। (१०)

जिस प्रकार पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का स्वत्व है, उसी प्रकार पृथिवी के ऊर्ज या बल पृथिवी पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। कवि के शब्दों में—'हे पृथिवी, तुम्हारे शरीर से निकलने वाली जो शक्ति की धाराएं हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो'—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ (१२)

पृथिवी या राष्ट्र का जो मध्यबिन्दु है उसे ही वैदिक भाषा में नभ्य कहा है। उस केन्द्र से युग-युग में अनेक ऊर्ज या राष्ट्रीय बल निकलते हैं। जब इस प्रकार के बलों की बहिया आती है तब राष्ट्र का कल्प-वृक्ष हरियाता है। युगों से सोए हुए भाव जाग जाते हैं और वही राष्ट्र का जागरण होता है। कवि की अभिलाषा है कि जब इस प्रकार के बल प्रवाहित हों तब मैं भी उस चेतना के प्राणवायु से संयुक्त होऊँ। पृथिवी के ऊपर आकाश में छा जाने वाले विचार-मेघ पर्जन्य हैं जो अपने वर्षण से समस्त जनता को सींचते हैं (पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु, १२)। उन पर्जन्यों से

प्रजाएं नई-नई प्रेरणाएं लेकर बढ़ती हैं। पृथिवी पर उठने वाले ये महान् वेग मानसिक शक्तियों में प्रकंप उत्पन्न करते हैं, और शारीरिक बलों में चेतना या हलचल को जन्म देते हैं। शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के वेगों (फ़ोर्सेज़) के लिए वेद में 'एजथु' और 'वेपथु' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

महत्सधस्थं, महती बभूव;
महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे (१८)

भूमि की एक संज्ञा सधस्थ (कामन फादर लैण्ड) है, क्योंकि यहां उसके सब पुत्र मिल कर (सह+स्थ) एक साथ रहते हैं। यह महती पितृभूमि या सधस्थ विस्तार में अत्यन्त महान् है और ज्ञान की प्रतिष्ठा में भी इसका पद ऊँचा है। इसके पुत्रों के एजथु (मन के प्रेरक वेग) और वेपथु (शरीर के बल) भी महान् हैं। तीन महत्ताओं से युक्त इसकी रक्षा महान् इन्द्र प्रमादरहित होकर करते हैं (महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्, १८)। महान् देश-विस्तार, महती सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, जनता में शरीर और मन का महान् आन्दोलन और राष्ट्र का महान् रक्षण-बल, ये चारों जब एक साथ मिलते हैं तब उस युग में इतिहास स्वर्ण के तेज से चमकता है। इसीको कवि ने कहा है 'हे भूमि, हिरण्य के संदर्शन से हमारे लिये चमको, कोई हमारा वैरी न हो (१८) बड़े-बड़े बवंडर और भूचाल, हड़हरे और हड़कंप, बतास और झंझाएं भौतिक और मानसिक जगत् में पृथिवी पर चलते रहते हैं। इतिहास में कहीं युद्धों के प्रलयंकर मेघ मंडराते हैं, कहीं क्रांति और विप्लवों के धक्के पृथिवी को डगमगाते हैं, परन्तु पृथिवी का मध्यबिंदु कभी नहीं डोलता। जिन युगों में किलकारी मारने वाली घटनाओं के अध्याय सपाटे के साथ दौड़ते हैं, उनमें भी पृथिवी का केन्द्र ध्रुव और अडिग रहता है। इसका कारण यह है कि यह पृथिवी इन्द्र की शक्ति से रक्षित (इन्द्रगुप्ता) है, सबमें महान् देव इन्द्र प्रमादरहित होकर स्वयं इसकी रक्षा करता रहता है। इस प्रकार की कितनी अग्नि परीक्षाओं में पृथिवी उत्तीर्ण हो चुकी है।

कवि की दृष्टि में मनु की संतति इस पृथिवी पर अड़चन के बिना निवास

करती है (असंबाधं बध्यतो मानवानाम् २)। इस भूमि के पास चार दिशाएँ हैं, इसका स्मरण कराने का यह तात्पर्य है कि प्रत्येक दिशा में जो स्वाभाविक दिक्सीमा है वहां तक पृथिवी का अप्रतिहत विस्तार है। 'प्राची और उदीची, दक्षिण और पश्चिम—इन दिशाओं में सर्वत्र हमारे लिये कल्याण हो, और हम कहीं से उत्क्रांत न हों, (३१,३२)। इस भुवन का आश्रय लेते हुए हमारे पैरों में कहीं ठोकर न लगे (मा निपतं भुवने शिश्रियाणः) और हमारे दाहिने और बाएं पैर ऐसे दृढ़ प्रतिष्ठित हों कि किसी भी अवस्था में वे लड़खड़ाएं नहीं (पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्)। जनता के पराक्रम की चार अवस्थाएं होती हैं—कलि, द्वापर, त्रेता और कृत। जनता का सोया हुआ रूप कलि है, अंगड़ाई लेता हुआ या बैठने की चेष्टा करता हुआ द्वापर है, खड़ा हुआ रूप त्रेता और चलता हुआ रूप कृत है (उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः, २८)।[1]

पृथिवी पर असंबाध निवास करने के लिये एक भावना बारंबार इन मंत्रों में प्रकट होती है। वह है पृथिवी के विस्तार का भाव। यह भूमि हमारे लिये उरु लोक अर्थात् विस्तृत प्रदेश प्रदान करने वाली हो (उरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु)। द्युलोक और पृथिवी के बीच में महान् अन्तराल जनता के लिये सदा उन्मुक्त रहे। राष्ट्र के लिये केवल दो चीजें चाहिएँ—एक 'व्यच' या भौमिक विस्तार और दूसरी मेधा या मस्तिष्क की शक्ति (५६) इन दो की प्राप्ति से पृथिवी की उन्नति का पूर्णरूप विकसित हो सकता है।

भूमि पर जनों का वितरण इस प्रकार स्वाभाविक रीति से होता है जैसे अश्व अपने शरीर की धूलि को चारों ओर फैलाता है। जो जन पृथिवी पर बसे थे वे चारों ओर फैलते गए और उनसे ही अनेक जनपद

---

१ इसी की व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण के चरैवेति गान में है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

अस्तित्व में आए। यह पृथिवी अनेक जनों को अपने भीतर रखनेवाला एक पात्र है (त्वमस्यावपनी जनानाम्, ६१)। यह पात्र विस्तृत है (पप्रथाना), अखंड (अदिति रूप) है, और सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला (कामदुघां) है। किसी प्रकार की कोई न्यूनता प्रजापति के सुन्दर और सत्य नियमों के कारण इस पूर्ण घट में उत्पन्न नहीं होती। पृथिवी के ऊन भावों की पूर्त्ति का उत्तरदायित्व प्रजापति के ऋत या विश्व की संतुलन शक्तियों पर है (यत्त ऊनं तत्त आपूरयति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य, ६१)।

पृथिवी पर बसे हुए अनेक प्रकार के जनों की सत्ता ऋषि-स्वीकार करता है। मातृभूमि को वे मिलकर शक्ति देते हैं और उसके रूप की समृद्धि करते हैं। अपने-अपने प्रदेशों के अनुसार (यथौकसम्) उनको अनेक भाषाएं हैं और वे नाना धर्मों के मानने वाले हैं:—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं;
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (४५)

उनमें जो विभिन्नता की सामग्री है उसे मातृभूमि सहर्ष स्वीकार करती है। विभिन्न होते हुए भी उन सबमें एक ही तार इस भावना का पिरोया हुआ है कि वे सब पृथिवी के पुत्र हैं। कवि की दृष्टि में यह एकता दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो उस गंध के रूप में है जो पृथिवी का विशेष गुण है। यह गंध सबमें बसी हुई है। जिसमें पृथिवी की गंध है वही सगंध है और उसीमें भूमि का तेज झलकता है। पृथिवी से उत्पन्न वह गंध राष्ट्रीय विशेषता के रूप में स्त्रियों और पुरुषों में प्रकट होती है। उसी गंध को हम स्त्री-पुरुषों के भाग्य और मुख के तेज के रूप में देखते हैं। वीरों का पौंस्य भाव और कन्या का वर्चस् उसी गंध के कारण है। मातृभूमि की पुत्री प्रत्येक कुमारी अपने नए लावण्य में उसी गंध को धारण करती है। मातृभूमि की उस गंध से हम सब सुरभित हों, उस सौरभ का आकर्षण सर्वत्र हो। अन्य राष्ट्रों के मध्य में हमारी उस गंध का कोई वैरी न हो, केवल उस गंध के कारण अर्थात् मातृभूमि की उस छाप को अपने सिर पर धारण करने के कारण कोई हमसे द्वेष न करे (तेन मा सुरभिं कृणु मा

नो द्विक्षत कश्चन, २४, २५)। वह गंध पृथिवी के प्रत्येक परमाणु की विशेषता है। ओषधियों और वनस्पतियों में, मृगों और आरण्य पशुओं में, अश्वों और हाथियों में सर्वत्र वही एक विशेषता स्पष्ट है। मातृभूमि की उस गंध के कारण किसी को कहीं भी निरादर प्राप्त न हो, वरन् इसी गुण के कारण राष्ट्र में वे तेजस्वी और सम्मानित हों। वही गंध उस पुष्कर में बसी हुई थी जिसे सूर्या के विवाह में देवों ने सूंघा था। हे भूमि, उन अमर्त्यों को तुम्हारी 'अग्र गंध' उदय के प्रथम प्रभात में प्राप्त हुई थी, वही अग्र गंध हमें भी सुरभित करने वाली हो। जिस समय राष्ट्र की सब प्रजाएं परस्पर सुमनस्यमान होकर अपने सुन्दर से सुन्दर रूप में विराजमान थीं, उस समय सूर्या के विवाह में उनका जो महोत्सव हुआ था, उस सम्मिलन में जिस गंध से बसे हुए कमल को देवों ने सूंघा था, उसी अमर ऐक्य गंध की उपासना आज हम भी करते हैं (२३—२५)। जनता का बाह्य भौतिक रूप और श्री उसी राष्ट्रीय ऐक्य से सदा प्रभावित हो।

एकता का दूसरा रूप अधिक उच्च है। वह मानस जगत् की भावना है (वह अग्नि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। अग्नि ही ज्ञान की ज्योति है। 'पुरुषों और स्त्रियों में, अश्वों और गोधन में, जल और ओषधियों में, भूमि और पाषाणों में, द्युलोक और अन्तरिक्ष में एक ही अग्नि बसी हुई है। मर्त्य लोग अपनी साधना से उसी अग्नि को प्रज्वलित करके अमर्त्य बनाते हैं।' मातृभूमि के जिन पुत्रों में यह अग्नि प्रकट हो जाती है वे अमृतत्व या देवत्व के भाव को प्राप्त करते हैं। 'यह समस्त भूमि उस अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है। इसका घुटना काला है' (अग्निवासाः पृथिवी असितज्ञूः, २१) पुत्र माता के जिस घुटने पर बैठता है, उसका भौतिक रूप काला है, किंतु उस पर बैठकर और मातृमान् बनकर वह अपने हृदय के भावों से उस अग्नि को प्रकाशित करता है, और तेज और तीक्ष्ण बल प्राप्त करता है (२१)। मातृभूमि के साथ सम्बंधित होने के लिये मनोभाव ही प्रधान वस्तु है। 'जो देवों की भावना रखते हैं उनके लिये यहां सजाए हुए यज्ञ हैं; जो मानुषी भावों से प्रेरित हैं, उन मर्त्यों के

लिये केवल अन्न और पान के भोग हैं (२२) इस सूक्त में भूमि, भूमि पर बसने वाले जन, जनों की विविधता, उनकी एकता और उन सबको मिलाकर एक उत्तम राष्ट्र की कल्पना—इन पांच बातों का स्पष्ट विवेचन पाया जाता है। कवि ने निश्चित शब्दों में कहा है—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (८)

समग्रता—राष्ट्रीय ऐक्य के लिये सूक्त में 'समग्र' शब्द का प्रयोग है। यह ऐक्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? आपस में भिन्नता होना, अनेक भाषाओं और धर्मों का अस्तित्व कोई त्रुटि नहीं है। अभिशाप के रूप में उसकी कल्पना उचित नहीं है। ऋषि की दृष्टि में विविधता का कारण भौमिक परिस्थिति है। नाना धर्म, भिन्न भाषाएं, बहुधा जन, ये सब यथौकस् अर्थात् अपने-अपने निवासस्थानों के कारण पृथक् हैं। इस स्वाभाविक कारण से जूझना मनुष्य की मूर्खता है। ये स्थूल भेद कभी एकाकार हो जाएंगे, यह समझना भी भूल है। 'पृथिवी से जो प्राणी उत्पन्न हैं उन्हें भूमि पर विचरने का अधिकार है। जितने मर्त्य 'पंच मानव' यहां हैं वे तब तक अमर रहेंगे जब तक सूर्य आकाश में है क्योंकि सूर्य ही तो प्रातःकाल सबको अपनी रश्मियों से अमर बना रहा है।' (१५)

पृथिवी के 'पंच मानव' और छोटी-मोटी और भी अनेक प्रजाएं (पंच कृष्टयः) विधाता के विधान के अनुसार ही स्थायी रूप से यहां निवास करने के लिये हैं, अतएव उनको परस्पर समग्र भाव से एकता के सूत्र में बाँधकर रखना आवश्यक है—

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्। (१६)

बिना एकता के मातृभूमि का कल्याण असंभव है। पृथिवी के दोहन के लिये आदिराज पृथु ने जड़-चेतन के अनेक वर्गों को एक सूत्र में बाँधा था, और भूमि का दूध पीने के लिये पृथु की अध्यक्षता में सभी को बछड़ा बनना पड़ा था। इस ऐक्य-भाव की कुंजी वाणी का मधु या बोली की मिठास है (वाचः मधु)। यह कुंजी तीन काल में

भी नहीं बिगड़ती। हमें चाहिए कि जब बोलने लगें तो पहले यह सोच लें कि हम उससे किसी के हृदय पर आघात तो नहीं कर रहे हैं। 'हे सब को शुद्ध करने वाली माता, तुम्हारे मर्म और हृदय-स्थान का वेधन मैं कभी न करूँ।' (३५) प्रियदर्शी अशोक ने सम्प्रदायों में सुमति और सद्भाव के लिये वाणी के इस शब्द का उपदेश दिया था। अपने को उज्ज्वल सिद्ध करने के लिये जब हम दूसरों की निंदा करते हैं तब आप भी बुझ जाते हैं। राष्ट्र की वाक् में मधु की अनेक धाराओं के अनवरत प्रवाह में ही सबका कल्याण है और वही मधु समग्र प्रजाओं को एक अखंड भाव में गूँथता है। पृथिवी स्वयं क्षमाशील धात्री है (क्षमां भूमिम्, २९) वह क्षमा और सहिष्णुता का सबसे बड़ा आदर्श उपस्थित करती है। 'ज्ञानी गुरु (२९) और मूर्ख-बुद्ध दोनों को वह पोषित करती है। भद्र और पापी दोनों की मृत्यु उसीकी गोद में होती है।' (४८) प्रत्येक प्राणी दाहिनी-बाईं पसलियों की करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का बिछौना बनी है, (सर्वस्य प्रतिशीवरी, ३४)

पृथिवी पर बसने वाला जन व्यक्ति रूप से शतायु, पर समष्टि रूप से अमर है। जन का जीवन एक पीढ़ी में समाप्त नहीं हो जाता, वह युगांत तक स्थिर रहता है। सूर्य उसके अमृतत्व का साक्षी है। जन पृथिवी के उत्संग में रोग और ह्रास से अभय होकर रहना चाहता है। (अनमीवा अयक्ष्मा ६२)। हे मातृभूमि, हम दीर्घ आयु तक जागते हुए तुम्हारे लिये भेंट चढ़ाते रहें (६२)। पृथिवी जन के भूत और भविष्य दोनों की पालन-कर्त्री है (सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, १)। उसकी रक्षा स्वयं देव बिना प्रमाद स्वप्नरहित होकर करते हैं (७) इसलिये पृथिवी का जीवन कल्पांत तक स्थायी है। उस भूमि के साथ यज्ञीय भावों से सम्बन्धित जन भी अजर-अमर है।

भूमि के साथ जन का सम्बन्ध आज नया नहीं है। यही पृथिवी हमारे पूर्व पुरुषों की भी जननी है। हे पृथिवी, तुम हमारे पूर्वकालीन पूर्वजों की भी

माता हो। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर पूर्व जनों ने अनेक विक्रम के कार्य किये हैं—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे (५)।

उन पराक्रमों की कथा ही हमारे जन का इतिहास है। हमारे पूर्व पुरुषों ने इस भूमि को शत्रुओं से रहित (अनमित्र) और असपत्न बनाया। उन्होंने युद्धों में दुंदुभि-घोष किया (यस्यां वदति दुंदुभिः, ४१) और आनंद से विजयगान करते हुए नृत्य और संगीत के प्रमोद किए (यस्यां नृत्यंति गायंति व्यैलबाः,४१)। जनता की हर्षवाणी और किलकारियों से युक्त गीत और नृत्य के दृश्य, तथा अनेक प्रकार के पर्व और मंगलोत्सव का विधान संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसके द्वारा लोक की आत्मा प्रकाशित होती है। भारतीय संवत्सर के षड्ऋतुओं का चक्र इस प्रकार के पर्वों से भरा हुआ है। उनके सामयिक अभिप्राय को पहचानकर उन्हें फिर से राष्ट्रीय जीवन का अंग बनाने की आवश्यकता है। उद्यानों की क्रीड़ाएं और कितने प्रकार के पुष्पोत्सव संवत्सर की पर्व-परंपरा में अभी तक बच गए हैं। वे फिर से सार्वजनिक जीवन में प्राण प्रतिष्ठा के अभिलाषी हैं।

इस विश्वगर्भा पृथिवी के पुत्रों को विश्वकर्मा कहा गया है (१२) अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों की योजना उन्होंने की है और नये सम्भारों को वे उठाते रहते हैं। पृथिवी के विशाल खेतों में उनके दिन-रात के परिश्रम से चारों ओर धान्य सम्पत्ति लहराती है। उन्होंने अपनी बुद्धि और श्रम से अनेक बड़े नगरों का निर्माण किया है जो देव-निर्मित से जान पड़ते हैं—

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भां आशामाशां रण्यां नः कृणोतु (४३)

पृथिवी की महापुरियों में देवताओं का अंश मिला है इसीलिये तो वे अमर हैं। महापुरियों में देवत्व की भावना से स्वयं भूमि को भी देवत्व और सम्मान मिला है। जंगल और पहाड़ों से भरी हुई, तथा समतल

मैदान और सदा बहने वाली नदियों से परिपूर्ण भूमि को हर एक दिशा में नगरों की शोभा से रमणीय बना देना राष्ट्र का बड़ा भारी पराक्रम कार्य माना जाता है। संस्कृति के अनेक अध्यायों का निर्माण इन नगरों में हुआ है जिसके कारण उनको पुनः प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। प्राचीन भारत में नगरों के अधिष्ठाता देवताओं की कल्पना की गई थी। उन नगर-देवताओं को फिर से पौर-पूजा का उपहार चढ़ाने के लिये सार्वजनिक महोत्सवों का विधान होना चाहिए। पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं उनमें भी सभ्यता के अंकुर फूले-फले हैं। ग्रामों के जनपदीय जीवन में एवं जहां अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं उन संग्रामों या मेलों में मातृभूमि की प्रशंसा के लिये उसके पुत्रों के कंठ निरंतर खुलते रहें—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्यां
ये संग्रामास्समितयस्तेषु चारु वदेम ते। (५६)

'पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियां हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि, हम तुम्हारे लिये सुन्दर भाषण करें।'

सुन्दर भाषण का स्मरण करते हुए कवि का हृदय गद्गद हो जाता है। वह चाहता है कि भूमि के प्रशंसा-गान में हमारा हृदय विकसित हो, हमारी वाणी उदार हो और हमारी भाषा की शब्द-सम्पत्ति का भंडार उन्मुक्त हो। वाणी का सर्वोत्तम तेज उन सभाओं और समितियों में देखा जाता है जो राष्ट्रीय जीवन को नियमित करती हैं। सभा और समिति को वेदों में प्रजापति की पुत्रियां कहा गया है। राष्ट्रीय जीवन के साथ उनका मिलकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। सभाओं और समितियों में जनता के जो प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं, मातृभूमि के लिये उनके द्वारा सुन्दरतम शब्दों के प्रयोग की कल्पना कितनी मार्मिक है। वेदों के अनुसार पृथिवी पर बसने वाली जनता का सम्बन्ध राष्ट्र से है। राष्ट्र के अन्तर्गत भूमि और जन दोनों सम्मिलित हैं। इसलिये यजुर्वेद के 'आब्रह्मन्' सूक्त में एक ओर ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, तेजस्वी राजन्य और

यजमानों के वीर युवा पुत्रों का आदर्श है, दूसरी ओर उचित समय पर मेघों से जल-वृष्टि और फलवती ओषधियों के परिपाक से पृथिवी पर धन-धान्य की समृद्धि की अभिलाषा है। इन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का योग-क्षेम पूर्ण होता है। पृथिवी सूक्त में राष्ट्र के आदर्श को कई प्रकार से कहा गया है। भूमि पर जन की दृढ़ स्थापना, जनता में समग्रता का भाव, जन की अनमित्र, असपत्न और असंबाध स्थिति आदि जो बातें राष्ट्र-वृद्धि के लिए आवश्यक हैं उनका वर्णन सूक्त में यथास्थान प्राप्त होता है।

भूमि, जन और जन की संस्कृति, इन तीनों की सम्मिलित संज्ञा राष्ट्र है। पृथिवी सूक्त के अनुसार राष्ट्र तीन प्रकार का होता है—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। प्रथम कोटि के राष्ट्र में पृथिवी की सब प्रकार की भौतिक सम्पत्ति का पूर्ण रूप से विकास देखा जाता है। मध्यम कोटि के राष्ट्र में जन की वृद्धि और हलचल देखी जाती है, और उत्तम कोटि के राष्ट्र की विशेषता का लक्षण राष्ट्रीय जन की उच्च संस्कृति है। इसी को ध्यान में रखते हुए ऋषि प्रार्थना करता है कि हम उत्तम राष्ट्र में मानसिक तेज और शारीरिक बल प्राप्त करें—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधात्तूत्तमे, (८)।

वह भूमि जिसका हृदय अमृत और सत्य से ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्र में हमारे लिये तेज और बल की देने वाली हो। राष्ट्र के उपर्युक्त स्वरूप को यों भी कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर, प्राण, और मन—इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। राष्ट्र में जन्म लेकर प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है, अर्थात् त्रिविध कर्तव्य जीवन में उसके लिये नियत हो जाते हैं। राष्ट्र के शरीर या भौतिक रूप की उन्नति देवऋण है, क्योंकि यह भूमि इस रूप में देवों के द्वारा निर्मित हुई। जन के प्रति कर्तव्य पितृऋण है जो सुन्दर स्वस्थ प्रजा की उत्पत्ति और उनके संवर्धन से पूर्ण किया जाता है। राष्ट्रीय-ज्ञान

और धर्म के प्रति जो कर्तव्य है वह ऋषि-ऋण है। संस्कृति के विकास के द्वारा हम उस ऋण से उऋण होते हैं। ऋषियों के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है ज्ञान और संस्कृति के आदर्शों को अपने ही जीवन में मूर्तिमान् करने का प्रयत्न, और यह विचार कि राष्ट्र में ज्ञान के संरक्षण और संचय की जो गुहाएं हैं, उनमें मेरा अपना मन भी एक गुहा बने, इससे राष्ट्र के उत्तम रूप का तेज विकसित होता है। एक तपस्वी के तप से, ज्ञानी के ज्ञान से और संकल्पवान् पुरुष के संकल्प से समस्त राष्ट्र-शक्ति, ज्ञान और संकल्प से युक्त बनजाता है। राष्ट्र में सुवर्ण के सुमेरुओं का संचय उसके स्थूल शरीर की सजावट है, परन्तु तप, ज्ञान और संकल्प की साधना राष्ट्र के मन और जन की संस्कृति का विकास है। 'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'—यह वाक्य राष्ट्र की उत्तम स्थिति या सर्वश्रेष्ठ आदर्श का सूत्र है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धित होता है। उस व्यवहार को दूसरे मंत्र में (५८) चार प्रकार से कहा गया है—

१—'मैं जो कहता हूँ उसमें शहद की मिठास घोल कर बोलता हूँ।' अर्थात्, सबके साथ सहिष्णुता का भाव राष्ट्र की उद्घोषित नीति है और हमारे साहित्य और संस्कृति का यही सन्देश है।

२—'जिस आंख से मैं देखता हूँ उसे सब चाहते हैं। हमारा दृष्टिकोण विश्व का दृष्टिकोण है, अतएव सबके साथ उसका समन्वय है; किसी के साथ उसमें विरोध या अनहित भाव नहीं है।

३—परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा तेजस्वी और सशक्त का होता है।

४—जो मेरा हिंसन या आक्रमण (अवरोधन) करता है उसका मैं हनन करता हूं।' इस नीति में राष्ट्र के ब्रह्मबल और क्षत्रबल का समन्वय है।

ऋषि की दृष्टि में यह भूमि धर्म से धृत है, हमारे महान् धर्म की वह धात्री है। उसके ऊपर विष्णु ने तीन प्रकार से विक्रमण किया, अश्विनी कुमारों ने उसको फैलाया और प्रथम अग्नि उसपर प्रज्वलित की गई।

वह अग्नि स्थान-स्थान पर समिद्ध होती हुई समस्त भूमि पर फैली है और उससे भूमि को धार्मिक भाव प्राप्त हुआ है। अनेक महान् यज्ञों का इस पृथिवी पर वितान हुआ। उसके विश्वकर्मा पुत्रों ने अनेक बार के यज्ञीय विधानों में नवीन अनुष्ठानों की भूमिका के रूप में पृथिवी पर वेदियों का निर्माण किया। अनेक ऋत्विजों ने ऋक्, यजु और साम के द्वारा उन यज्ञों के मंत्र का उच्चारण किया। भूमि पर पूर्वजों के द्वारा यज्ञों का जो अनुष्ठान किया गया उससे भू-प्रतिष्ठा के लिये अनेक आसंदियां स्थापित हुईं और जन-कीर्त्ति के यूप-स्तंभ खड़े किए गए। भूमि को आत्मसात् करने के प्रमाण रूप में यज्ञीय यूप आज तक आर्यावर्त्त से यवद्वीप तक स्थापित हैं। इन यूपों के सामने दी हुई आहुतियों से सम्राटों के अश्वमेध यज्ञ अलंकृत हुए हैं। कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विक्रम के प्रतीक चिह्नों की संज्ञा ही यूप है। पृथिवी का इन्द्र के साथ घनिष्ट संबंध है। यह इन्द्र की पत्नी है, इन्द्र इसका स्वामी है। इसने जान-बूझ कर इन्द्र का वरण किया, वृत्रासुर का नहीं (इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्, ३७)। इस प्रकार पृथिवी न केवल हमारी मातृभूमि है, किंतु हमारी धर्मभूमि भी है।

जनसंस्कृति अथवा ब्रह्म-विजय।

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि के साथ जनता का सबसे अच्छा और गहरा सम्बन्ध उसकी संस्कृति के द्वारा होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकार से अपने आप को प्रतिष्ठित करता है—एक सैनिक बल या क्षत्र-विजय के द्वारा और दूसरा ज्ञान या ब्रह्म-विजय के द्वारा। क्षत्र-विजय (पॉलिटिक मिलिटरी ऐम्पायर) भी एक महान् पराक्रम का कार्य है, किंतु ब्रह्म-विजय (आइडियॉलॉजिकल कल्चर ऐम्पायर) उससे भी महान् है। इन दोनों दिग्विजयों के मार्ग एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। हमारी पृथिवी का इतिहास दोनों प्रकार से गौरवशील है। क्षत्र-बल के द्वारा देश में अनेक छोटे और बड़े राज्यों की स्थापना हमारे इतिहास में होती रही। किसी पूर्व युग में इस भूमि पर देवों ने असुरों को पछाड़ा था और

दुन्दुभि-घोष के द्वारा पृथिवी को दस्युओं और शत्रुओं से रहित किया था; उसके फलस्वरूप पृथिवी-पुत्रों ने अजीत, अक्षत और अहत होकर भूमि पर अधिकार प्राप्त किया। इस प्रकार की क्षत्र-विजय इतिहास में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण समझी जाती है, परन्तु भूमि की सच्ची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञान की विजय है। जैसा कहा है, यह पृथिवी ब्रह्म या ज्ञान के द्वारा संवर्द्धित होती है—

ब्रह्मणा वावृधानाम् (२९)

ब्रह्म-विजय के लिये एक व्यक्ति का जीवन उतना ही बड़ा है जितनी पूरी त्रिलोकी। उस विशाल क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्म की पूरी ऊँचाई तक उठ कर दिग्विजय के आदर्श को स्थापित कर सकता है। एक छोटे जनपद का शासक भी अपने पराक्रम से सच्ची ब्रह्म-विजय प्राप्त करके जब यह घोषित करता है कि मेरे राज्य में चोर, पापी और आचार-हीन व्यक्ति नहीं रहते, तब वह अपने उस परिमित केन्द्र में बड़े-से-बड़े सार्वभौम शासक का ऊँचा आदर्श और महत्त्व प्राप्त कर लेता है। व्यक्तियों और जनपदों के द्वारा यह ब्रह्म-विजय समस्त देश में फैलती है, और एक-एक ग्राम, पुर, नदी, पर्वत और अरण्य को व्याप्त करती हुई देशान्तर और द्वीपान्तरों तक पहुँचती है। दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, संस्कृति की बहुमुखी विजय भारतवर्ष की ब्रह्म-विजय के रूप में संसार के दूर देशों में मान्य हुई, जिसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। बृहत्तर भारत का अध्ययन इसी चतुर्दिश ब्रह्म-विजय का अध्ययन है।

ब्रह्म-विजय या संस्कृति के साम्राज्य का रहस्य क्या है? आध्यात्मिक जीवन के जो महान् तत्त्व हैं ऋषि की दृष्टि में वे ही पृथिवी को धारण करते हैं। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में ही राष्ट्र की इस आधार-भूमि का वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के स्वरूप का ध्यान करते हुए सबसे पहले यही मूल सत्य ऋषि के ध्यान में आया जिसे उसने निम्न-लिखित शब्दों में व्यक्त किया—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

'सत्य, बृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—ये पृथिवी को धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्य की पत्नी है, वह हमारे लिये विस्तृत लोक प्रदान करने वाली हो।'

यह मंत्र भारतवर्ष की सांस्कृतिक विजय का अंतर्यामी सूत्र है। इससे तीन बातें ज्ञात होती हैं—सत्य, ऋत आदिक शाश्वत तत्त्व जिस तरह आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं उसी तरह राष्ट्रीय जीवन के भी आधार हैं, उन्हींसे संस्कृति का निर्माण होता है। दूसरे भूतकाल में और भविष्य में राष्ट्र के साथ पृथिवी का जो सम्बन्ध है वह संस्कृति के द्वारा ही सदा स्थिर रहता है। तीसरे यह कि ब्रह्म-विजय के मार्ग में पृथिवी की दिक् सीमाएँ अनंत हो जाती हैं। एक जनपद से जो संस्कृति की विजय आरंभ होती है उसकी तरंगे देश में फैलती हैं, और पुनः देश से बाहर समुद्र और पर्वतों को लांघती हुई देशांतरों में और समस्त भूमंडल में फैल जाती हैं। यही पृथिवी का 'उरुलोक' प्रदान करना है।

सत्य और ऋत जीवन के दो बड़े आधार स्तंभ हैं। कर्म का सत्य सत्य है और मन का सत्य ऋत है। मानस सत्य के नियम विश्व भर में अखंड और दुर्धर्ष हैं। कर्म-सत्य और मानस-सत्य इन दोनों के बल से राष्ट्र बलवान् होता है। इन दो प्रकार के सत्यों को प्राप्त करने के लिये जीवन के कटिबद्ध व्रत का नाम दीक्षा है। दीक्षित व्यक्ति पहली बार सत्य की ओर आंख से आंख मिला कर देखता है। दीक्षा के अनन्तर जीवन में जो साधना की जाती है वही तप है। अनेक विद्वान् और ज्ञानी सत्य के किसी एक पक्ष को प्रत्यक्ष करने की दीक्षा लेकर जीवन में घोर परिश्रम करते हैं, वही उनका तप है। इस तप के फल का विश्वहित के लिये विसर्जन करना

यज्ञ है। इन पाँचों को जीवन में प्राप्त करने या अनुप्राणित करने की जो भावना है, वही ब्रह्म या ज्ञान है।

इन आदर्शों में श्रद्धा रखने वाले पूर्व ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से (मायाभिः) इस पृथिवी को मूर्त्त रूप प्रदान किया, अन्यथा यह जल के नीचे छिपी हुई थी। वे ही ऋषि आदर्शों के संस्थापक हुए, जिन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सब तरह से नया निर्माण किया। उन निर्माता पूर्वजों (भूतकृतः ऋषयः ने) यज्ञ और तप के साथ राष्ट्रीय सत्रों में जिन वाणियों का उद्घोष किया वही यह वैदिक सरस्वती भारतीय ब्रह्म विजय की ऊँची शाश्वती पताका है। श्रुति महती सरस्वती के कारण ही हमारी पृथिवी सब भुवनों में अग्रणी हुई, इसी कारण ऋषि ने उसे 'अग्रेत्वरी'[1] (आगे जाने वाली) विशेषण दिया है। मातृभूमि के इसी अग्रणी गुण को अर्वाचीन कवि ने 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' कहकर प्रकट किया है। जो स्वयं सब से आगे है वही अपने पुत्रों को प्रथम स्थान में स्थापित कर सकती है (पूर्वपेये दधातु)[2]। अपनी दुर्धर्ष ब्रह्म-विजय के आनंद में विश्वास के साथ मस्तक ऊँचा करके प्रत्येक पृथिवी-पुत्र इस प्रकार कह सकता है—'मैं विजयशील हूँ, भूमि के ऊपर सबसे विशिष्ट हूं, मैं विश्व-विजयी हूँ और दिशा-विदिशाओं में पूर्णतः विजयी हूं'—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥ (५४)

'अहमस्मि सहमान' की भावना अनेक क्षेत्रों में अनेक प्रकार से सहस्राब्दियों तक भारतीय संस्कृति में प्रकट होती रही। इसके कारण अनेक परिस्थितियों के बीच में पड़कर भी जनता का जीवन अक्षुण्ण बना रहा।

---

[1] भुवनस्य अग्रेत्वरी (अग्र+इत्वरी) लीडर एण्ड हेड ऑव ऑल दी वर्ल्ड (ग्रिफिथ, अथर्व० १२।१।५७)

[2] पूर्वपेय—फोरमोस्ट रैंक एण्ड स्टेशन- -ग्रिफिथ।

हे विश्वम्भरा पृथिवी, तुम्हारे प्रिय गान को हम गाते हैं। तुम विश्व की धात्री (विश्वधायस्) माता हो, अपने पुत्रों के लिये पयस्वती होकर सदा दूध की धाराओं का विसर्जन करती हो। ध्रुव कामधेनु की तरह प्रसन्न (सुमनस्यमान) होकर तुम सदा सब कामनाओं को पूर्ण करती हो। हे कल्याणविधात्री, तुम क्षमाशील और विश्वगर्भा हो। तुम सदा अपने प्राणमय संस्पर्श से हमारे मनोभावों को और जीवन को सब तरह के मैल से शुद्ध रखने वाली हो। हे मार्जन करने वाली देवि (विमृग्वरी २६, ३५, ३७), तुम जिसको माँज देती हो वही नव तेज से प्रकाशित होने लगता है। तुम धन-धान्य से पूर्ण वसुओं का आधान हो। हिरण्य, मणि और कोष तुम्हारे वक्षःस्थल में भरे हुए हैं। हे हिरण्यवक्षा देवि, प्रसन्न होकर अपनी इन निधियों को हमें प्रदान करो। जिस समय तुम समुद्र में छिपी थीं उस समय तुम्हें अपने जन्म से पहले ही विश्वकर्मा का वरदान प्राप्त हुआ था। तुम्हारे भुजिष्य पात्र में विश्वकर्मा ने अपनी हवि डाली थी (यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मा, ६०), इसके कारण विधाता की सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं और जितने प्रकार की सामर्थ्य है वह सब तुममें विद्यमान है। विश्वकर्मा की हवि में विश्व के सब पदार्थ सम्मिलित होने ही चाहिएं, अतएव उन सबको देने और उत्पन्न करने का गुण तुममें है। हे विश्वरूपा देवि, जिस दिन तुमने अपने स्वरूप का विस्तार किया था, और देवों से सम्बोधित होकर तुम्हारा नामकरण किया गया था, उसी दिन जितने प्रकार का सौंदर्य था वह सब तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हो गया (आ त्वा सुभूतमविशत्तदानी, ५५)। वही सौंदर्य तुम्हारे पर्वतों और निर्झरों में, हिमराशि और नदियों में, चर और अचर सब प्रकार के प्राणियों में प्रकट हो रहा है। हे मातृ-भूमि, तुम प्राण और आयु की अधिष्ठात्री हो; हमें सौ वर्ष तक सूर्य की मित्रता प्रदान करो जिससे हम तुम्हारे सौंदर्य को देखते हुए अपने नेत्रों को सफल कर सकें। तुम अपनी विजय के साथ वृद्धि को प्राप्त होती हुई हमारा भी संवर्धन करो (सा नो भूमिवर्धयद् वर्धमाना, १३)।

जीवन के कल्याणों के साथ हम सुप्रतिष्ठित हों। पृथिवी पर रहते हुए केवल भौतिक और पार्थिव विभूति ही जीवन में पर्याप्त नहीं है। कवि की क्रांतदर्शिनी प्रज्ञा द्युलोक के उच्च अध्यात्म भावों की ओर देखती है और उस व्योम में उसे मातृभूमि के हृदय का दर्शन होता है। इसलिये वह प्रार्थना करता है, 'हे भूमि माता, हमें पार्थिव कल्याणों के मध्य में रख कर द्युलोक के भी उच्च भावों के साथ युक्त करो। भूति और श्री दोनों की जीवन के लिये आवश्यकता है।' द्युलोक के साथ संमनस्क होकर श्री और भूति की एक साथ प्राप्ति ही आदर्श स्थिति है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्।(६३)

पार्थिव सम्पत्ति की संज्ञा भूति है और अध्यात्म भावों की प्राप्ति श्री का लक्षण है। भूति और श्री का एकत्र सम्मिलन ही गीता को इष्ट है। यही भारतवर्ष का ऊंचा ध्येय रहा है।

: २ :

भूमि को देवत्व प्रदान

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।

—अथर्ववेद १२।१।१२

हमारे विशाल देश में हिमालय की अनन्त हिमराशि ने जिन वारि-धाराओं को जन्म दिया है, उनमें उत्तरापथ को सींचने वाली गंगा और यमुना नाम की नदियां जीवन की धमनियों की तरह हमारे ऐतिहासिक चैतन्य की साक्षी रही हैं। उनकी गोद में हमारे पूर्व पुरुषों ने सभ्यता के प्रांगण में अनेक नये खेल खेले। उनके तटों पर जीवन का जो प्रवाह प्रचलित हुआ, वह आज तक हमारे भूत और भावी जीवन को सींच रहा है। भारत माता है और हम उसके पुत्र हैं, यह एक सचाई हमारे रोम-रोम में बिंधी हुई है। नदियों की अन्तर्वेदि में पनपने वाले आदि युग के जीवन पर अब हम जितना अधिक विचार करते हैं, हमको अपने विकास और वृद्धि की सनातन जड़ों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध उतना ही अधिक घनिष्ठ जान पड़ता है। जबतक भारतीय जाति का जीवन पृथिवी के साथ बद्धमूल है, जबतक हमारे धार्मिक पर्वों पर लाखों मनुष्य नदी और जलाशयों के तटों पर एकत्र होते हैं, तबतक हमारे आंतरिक गठन में दैवी स्वास्थ्य के अमर चिह्न का अस्तित्व सकुशल समझना चाहिए। पृथ्वी के एक-एक जलाशय और सरोवर को भारतीय भावना ने ठीक प्रकार समझने का प्रयत्न किया, उनके साथ एक सनातन सौहार्द का भाव उत्पन्न किया, जो हरएक पीढ़ी के साथ नये रस से उमड़ता चला आता

है। न हमारे तीर्थ और जलाशय पुराने होते हैं और न हमारा उनके साथ सख्य ही कुण्ठित होता है। यह जीवन की अमरबेल है जिसकी जड़ें पाताल में हैं। यह इस बात की निशानी है कि हम देश की विशाल प्रकृति के साथ अपना शुद्ध सम्बन्ध अभी तक बनाए हुए हैं। प्रकृति के साथ सम्पर्क में आने की लालसा जिस हृदय से लुप्त हो जाती है, वहाँ अवश्य ही मृत्यु की छाया पड़ी हुई समझनी चाहिए। नदी के स्वच्छ जल में अपने शरीर को आप्लुत कर देने की भावना के मूल में मातृवत्सल-बालक की वही प्रवृत्ति काम करती है, जिसकी प्रेरणा से वह अपने आप को मातृ-हृदय में भरे हुए सरस प्रेम में असीम आनन्द और शांति के लिये छिपा देना चाहता है।

जिस देवयुग में यहाँ नदियों की वारिधाराएं अखंड प्रवाह से बह रही थीं उस समय मनीषियों ने ध्यान की शक्ति से सारे भू-भाग को मानो देवत्व प्रदान करने के लिये नदियों के तटों और सङ्गमों पर तीर्थों का निर्माण किया। जन-सन्निवेश के वे आदि केन्द्र तीर्थविशेषों के रूप में हमारे सामने आज भी जीवित हैं। किसी नये भू-प्रदेश को अपना कर जातीय जीवन के साथ उसका तार पिरो देना भी एक बड़ी कला है। गङ्गा की अन्तर्वेदि में खड़े होकर आद्य ऋषियों ने विचार किया कि किस प्रकार अपने भू-भाग के साथ अपनेपन—स्व—का सम्बन्ध चिरजीवी बनाया जा सकता है? इसकी जो युक्ति उन्होंने निश्चित की वह भूमि को देवत्व प्रदान करने की प्रणाली थी। प्रत्येक सलिलाशय, वारिधारा, नदी, कुण्ड, पर्वत पाद के मूल में देवत्व का अधिष्ठान है। कवि के शब्दों में हिमालय—पत्थर-मिट्टी का ढेर नहीं, केवल लता, वनस्पति और रत्नराशि के उद्भव का स्थान नहीं, वह 'देवतात्मा' है—

> अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा,
> हिमालयो नाम नगाधिराजः।
> पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य,
> स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥
>
> —कालिदास, कुमारसम्भव १।१

अर्थात् उत्तर दिशा में हिमालय नाम का जो पर्वतराज है वह देवतात्मा है, देवस्वरूप है; वह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों के बीच में पृथिवी के मानदण्ड की तरह व्याप्त है। हिमालय देवता है, देवता अमर होते हैं, इसलिये हिमालय भी अमर है। यही भावना उस प्रत्येक भू-खण्ड के साथ ओत-प्रोत है, जिसको हमारे सूतों के माहात्म्य-गान ने देवत्व की पदवी प्रदान की थी। तीर्थों का माहात्म्य कल्पित करके उसको स्वर्ग और मोक्ष का धाम बताना, यह एक साहित्यिक परिपाटी का देश-सम्मत अंश था। जिस काल में भूमि के साथ हमारा सम्बन्ध स्थिर नहीं बना था, उस समय उसको आत्मीय बनाने के लिये, उसके कण-कण को मानव-हृदय के प्रीति-भाव से सिंचित करने के लिये जिस युक्ति का आश्रय यहां के साहित्य-मनीषियों ने लिया, उस भूमि को देवत्व प्रदान करने की युक्ति का स्पष्ट प्रमाण हम इन बहुसंख्यक माहात्म्यों के रूप में पाते हैं। जब हमारे रथ का पहिया किसी सरोवर या नदी के तट पर रुका, हमने श्रद्धा के भाव से उसको प्रणाम किया; उस एक प्रणाम में युग-युग की श्रद्धा का वीर्यवान् अंकुर मानो हमने उसके तट पर रोप दिया। हमने उसके साथ अपने किसी देवता का सम्बन्ध स्थापित किया, किसी ऋषि या प्रख्यात पुरुष के अवदात चरित्र की लीलास्थली वहाँ बनाई, किसी साधन-निरत तपस्वी के तप के क्षेत्र रूप में उसको देखा और उस भूबिन्दु की प्रशंसा में एक माहात्म्य-गान रचा। उस समय वह बिन्दु ही हमारी दृष्टि में सर्वोपरि था, अतएव मातृ-भूमि के विशाल हृदय के केन्द्र को वहीं प्रतिष्ठित मान कर हमने उसकी स्तुति के गीत गाए। यमुना के तट की परिक्रमा कीजिए, यामुन पर्वत से जहां यह जल-धारा प्रकट हुई है, प्रयागराज के संगम तक जो सुरम्य स्थल इसके दोनों किनारों पर विद्यमान हैं और जिन्हें आज हम अपनी अर्वाचीन आँख से भी पहचान सकते हैं, उन सबको पहले से ही हमारे भौगोलिक पंडितों ने हमारा आत्मीय बनाकर हमारे सामने रख दिया है। गंगा के तट पर कौन-सा रमणीक स्थल है, जो पूर्वजों की पैनी दृष्टि से बचकर रह गया हो? जिस युग में भूमि को

देवत्व के भाव से तरंगित करने के सफल प्रयास का आयोजन चल रहा था, उस काल में देश का जितना अच्छा पर्यवेक्षण किया गया, आज निष्पक्षता से उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है। भारत के अर्वाचीन बच्चों को उस दृष्टिकोण के लिये ठीक तरह पहचानना अभी शेष है। उस दृष्टिकोण को अभी तक हम पूर्वजों की बक-झक समझकर उसकी अवहेलना करते रहे! आज मातृ-भूमि का हृदय हमको अपनी ओर अनिवार्य वेग से खींच रहा है; हम अपने दैवी मनोभावों की परम विजय इसीमें समझते हैं कि अपने आपको सच्चे अर्थों में मातृ-भूमि का पुत्र समझ सकें। प्रत्येक वृक्ष और वनस्पति हमारा सहोदर बन कर हमको अपना सन्देश सुनने के लिए विवश कर रहा है। हम शहरों की कृत्रिम साधना से ऊब कर—जहां आकाश-वेल की तरह मनुष्य ने अपने पैरों के नीचे की जड़ों को जिनसे वह अपना जीवन-रस चूसा करता था, अपने ही हाथों से काट डाला था—फिर गांवों की ओर आकृष्ट हुए हैं। हमको जनपदों की बोलियों में काव्य-रस का अमृत-स्वाद मिलने लगा है, लोक-गीत और लोक-नृत्य को पाकर हमारा मानस-मयूर आनन्द-विभोर हो उठता है। यह महान् परिवर्तन राष्ट्रीय मनोभूमि में बड़े वेग से बढ़ रहा है। पूर्व से पश्चिम तक और कैलास से कुमारी तक इस विराट् परिवर्तन के चिह्न हमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मानो हमारे राष्ट्र के कल्पवृक्ष को किसी स्वर्गीय देवदूत ने अपने प्रसाद से छू दिया है, जिससे उसमें भावों और विचारों के नये-नये अनगिनत कोंपल फूट रहे हैं। किसी अभूतपूर्व वायु ने सबके कानों में एक ही मन्त्र फूँक दिया है, सबके हृदय में एक ही उत्साह और अभिलाषा है, अर्थात् फिर से एक बार मातृ-भूमि के हृदय के साथ सान्निध्य प्राप्त करना। इसलिये हम उसका सर्वाङ्गीण परिचय पाने के लिये व्याकुल और प्रयत्नशील हैं। हमारे नवयुवकों के यात्री-दल गहन कांतारों को पार करके और दुर्गम पर्वतों की उपत्यकाओं पर चढ़ कर सर्वत्र मातृ-भूमि की खोज करेंगे। हमारे विद्यालयों में ज्ञान का साधन करने वाले व्यक्ति प्रत्येक तृण और लता के पास जाकर उसका परिचय

पूछेंगे और प्रत्येक पुष्प के अभिराम रूप की प्रशंसा का नया माहात्म्य बनाएँगे। बहुत शीघ्र इस परिवर्तन के लक्षण हमारे दृष्टि-पथ में आ रहे हैं। हमारे वन-पर्वतों की गोष्पद और अगोष्पद भूमियाँ फिर इस वैदिक महानाद से गूँज उठेंगी—

माता भूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः।
नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै॥

—अथर्व।

: ४ :

जनपदीय अध्ययन की आंख

भारत जनपदों का देश है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गांवों और जनपदों का तांता हमारे चारों ओर फैला हुआ है और इस भूमि के अधिकांश जन गांवों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गांव-बस्तियां हमारी संस्कृति की धात्री हैं। गांव सच्चे अर्थों में पृथ्वी के पुत्र हैं। गांव के जीवन की जड़ें धरती का आश्रय पाकर पनपती हैं। गांवों में जन के जीवन को टिकाऊ आधार मिलता है। शहरों का जीवन उखड़ा हुआ जान पड़ता है। जनपदों का जीवन हजारों वर्षों की अटूट परम्परा को लिए हुए है। गांवों में जन की सत्ता है, नगर राजाओं की क्रीड़ा-भूमि रहे हैं। जन की सत्ता और महिमा एवं जन-जीवन की स्वाभाविक सरल निजरूपता जनपदों में सुरक्षित है जहाँ बाहरी अंकुशों से जीवन की प्राणदायिनी शक्ति पर कम प्रहार हुआ है। जनपदीय जीवन-स्थिति, शान्ति और अपनी ही मानसभूमि की अविचल टेक ढूंढ़ता है। इसके विपरीत पुर का जीवन धूम-धाम के नये ठाट रचता है। दोनों के दो पथ हैं। इतिहास के उतार-चढ़ाव में वे कभी एक-दूसरे से टकराते हैं, कभी मेल ढूंढते हैं और फिर कभी एक-दूसरे से परे हट जाते हैं। वैदिक काल से आजतक यही लहरिया गति चलती रही है। वैदिक युग प्राथमिक भूसन्निवेश का समय था, जब गांवों और जनपदों में फैलकर जीवन के बीज बोये गए। वन और जङ्गल, नदियों के तट और सङ्गम जीवन की किलकारी से लहलहा उठे। फिर साम्राज्यों का उदय हुआ और नन्द-मौर्य युग में नगरों के केन्द्र प्रभावशाली बन बैठे

गुप्त-युग में नगर और जनपदों ने एक-दूसरे के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया, वह समन्वय का युग था, जनपदों ने अपने जीवन का मथा हुआ मक्खन पुरों की भेंट चढ़ाया और पुरों ने उपकृत होकर संस्कृति के वरदान से जनपदों को संवारा। मध्यकालीन संस्कृति में पौरजानपद जीवन की धाराएं फिर एक-दूसरे से हट गईं और जनपदों की अपभ्रंश भाषा और जीवनशैली प्रधान रूप से आगे बढ़ी। नगरों में गुप्तकालीन संस्कृति की जो थाती बची थी वह अपने आप में ही घुलती रही, जनपदों से उसे नया प्राण मिलना बन्द हो गया। अतएव मध्यकाल की काव्य-कला और संस्कृति नगरों के मूर्छित जीवन के बोझ से निष्प्राण दिखाई देती है। पौरजानपद समन्वय के युग में लिखे गए रघुवंश के पहले-दूसरे सर्गों में जितना जीवन है उसकी तुलना जब हम नैषध चरित और विक्रमांकदेव चरित काव्यों के वर्णनों से करते हैं तब हमें यह भेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मुसलमानों के आगमन से जनपदों ने फिर अपने अंगों को कछुए की तरह अपने आप में सिकोड़ लिया और वे उस सुरक्षित कोष के भीतर समय काटते रहे। शहरों में परदेशी सत्ता जमी और उसने जीवन के ढांचे को बदला। उससे आगे अंग्रेजों की संस्कृति का प्रभाव भी शहरों पर ही सबसे अधिक हुआ। गांव अपने वैभव की भेंट शहरों को चढ़ाते रहे, गांवों को निचोड़ कर शहरों का भस्मासुर आगे बढ़ता रहा। यह नियम है कि जब जन की सत्ता जागती है, तब जनपद समृद्ध बनते हैं; जब जन सो जाता है तब पुर विलास करते हैं। अतएव हमारे जीवन के पिछले दो सौ वर्षों में जनपदीय जीवन पर चारों ओर से लाचारी के बादल छा गये और उनके जीवन के सब स्रोत रुंध गये। अब फिर जनपदों के उत्थान का युग आया है। देश के महान् कंठ आज जनपदों की महिमा का गान करने के लिये खुले हैं। देश के राजनीतिक संघर्ष ने ग्रामों और जनपदों को आत्म-सम्मान, आत्मप्रतिष्ठा और आत्ममहिमा के भाव से भर दिया है। पिछली भूचाली उथल-पुथल और महान् आन्दोलन का सर्वव्यापी सूत्र एक ही पकड़ में आता है, अर्थात्—

जानपद जन की प्रतिष्ठा

आज तेईससौ वर्षों के बाद हमने प्रियदर्शी अशोक के शब्दों को कान खोलकर सुना है, और राष्ट्रीय उत्थान के लिए मूलमन्त्र की भाँति उन्हें स्वीकार किया है। राजाओं की विहार-यात्राओं का अन्त करके उस ने एक नये प्रकार की धर्म-यात्राओं का आन्दोलन चलाया था जिनका उद्देश्य था:—

जानपदसा च जनसा दसने धमनुसथि च धम पछि पुछा च।

अर्थात्, जानपद जन का दर्शन, जानपद जन के लिए धर्म का सिखावन, और जानपद जन के साथ मिलकर धर्मविषयक पूछ-ताछ।

इन तीन प्रमुख उद्देश्यों के द्वारा सम्राट् ने जनता के नैतिक और धार्मिक जीवन एवं आचार-विचारों में परिवर्तन लाने का भारी प्रयत्न आरम्भ किया था। अशोक की परिभाषा के अनुसार सारा मानवी जीवन जिन सामाजिक और नीति नियमों से बंधा है, वे धर्म हैं। अतएव धर्म विषयक और आचार और विचारों को सुधार कर समस्त जन-समुदाय के जीवन को ऊपर उठाने की योजना अशोक ने की थी। उसके मन में जब यह विचार आया होगा तब निश्चय ही उसका ध्यान देश की उस कोटानुकोटि जनता की ओर गया होगा जो सच्चा भारतवर्ष था। वह जनता गांवों में बसती थी। आज तेईस शताब्दियों का चक्र घूम जाने पर भी भारत माता ग्रामवासिनी ही बनी हुई है। इसी ग्रामवासिनी गर्वीली जनता का दर्शन, सिखावन और परिपृच्छा (पूछताछ) जनपदीय अध्ययन का निचोड़ है। अपना ध्येय और उद्देश्य निश्चित करके अशोक ने एक पैर और आगे बढ़ाया।

**हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये येन एते अभीता
अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवूति।**

अर्थात्, मैंने राजकर्मचारी नियुक्त किये जिनका कर्तव्य है कि जानपद जन का हित करें और उनके सुख की बढ़ती करें, जिससे गांवों की

जनता निडर और स्वस्थ होकर मन लगाती हुई अपने-अपने कामों को कर सके।

अपने राष्ट्रीय जीवन में अशोक की नीति को आज भरपूर अपनाने की आवश्यकता है। जनपद और ग्रामों का पुनः निर्माण, वहां जीवन का अध्ययन और सच्चा ज्ञान हमें अपने पुनः निर्माण के लिये ही करना अनिवार्य है। ग्रामवासिनी जनता के कल्याण में ही हम सबका कल्याण छिपा हुआ है। उसके हित-सुख के बिना हम सबका हित-सुख अपूर्ण है। जनपदीय अध्ययन देश की अपनी आवश्यकता की पूर्ति है। वह साहित्यिकों का विनोद नहीं। अबतक हमने विदेशियों से प्रीति या कुरुख करना सीखा था, हमने अपने आपसे प्यार करना अभी तक नहीं सीखा। हमारी वर्तमान शिक्षा-दीक्षा, विचार और आचार की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम अपने भूले हुए जीवन से फिर से नाता जोड़ें, अपनी ही वस्तुओं और संस्थाओं से अनुराग का नया पाठ पढ़ें। अपने आपको जानने से जिस आनन्द का जन्म होता है वह ही हमें अब जीवन के पथ में आगे बढ़ा सकता है। जनपदीय अध्ययन राष्ट्रीय कार्यक्रम का हरावल दस्ता है। सब कार्यों से यह कार्य अपने महत्त्व और आवश्यकता में गुरुतर है। हमारी जनता के जीवन का जितना भी विस्तार है उस सबको जानने, पहचानने और फिर से जीवित करने का सशक्त व्यापार जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य है। लोगों के बिछुड़े हुए ध्यान को हम बार-बार इस आन्दोलन द्वारा जनता के जीवन पर केन्द्रित करना चाहते हैं। जनता ही हमारे उदीयमान राष्ट्र की महती देवता है। हमारे सब आयोजनों के मूल में और सब विचारों के केन्द्र में जनता प्रतिष्ठित है। यह सत्य जनपदीय अध्ययन का मेरुदण्ड है। जनता के जीवन के साथ हमारी सहानुभूति और आत्मा जितनी दृढ़ होगी उतना ही अधिक हम जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता को समझ पावेंगे।

जनपद जीवन के अनन्त पहलुओं की लीलाभूमि है। खुली हुई पुस्तक के समान जनपदों का जीवन हमारे चारों ओर फैला हुआ है।

पास गांव और दूर देहातों में बसने वाला एक-एक व्यक्ति उस रहस्य भरी पुस्तक के पृष्ठ हैं। यदि हम अपने आपको उस लिपि से परिचित करलें जिस लिपि में गांवों और जनपदों की अकथ कहानी पृथ्वी और आकाश के बीच में लिखी हुई है, तो हम सहज ही जनपदीय जीवन की मार्मिक कथा को पढ़ सकते हैं। प्रत्येक जानपद जन एक पृथ्वीपुत्र है। उसके लिए हमारे मन में श्रद्धा होनी चाहिए। हम उसे अपढ़, गँवार और अज्ञान रूप में जब देखने की धृष्टता करते हैं तो हम गांव के जीवन में भरे हुए अर्थ को खो देते हैं। जिस आंख से हमारे पूर्वजों ने ग्रामों और जनपदों को देखा था उसी श्रद्धा की आँख से हमें फिर देखना है और उनके नेत्रों में जो दर्शन की शक्ति थी उसको फिर से प्राप्त करना है। हम जब गांवों को देखते हैं तो वे हमें नितान्त अर्थशून्य और रुचिहीन दिखाई पड़ते हैं। परन्तु हमारे पूर्वजों की चक्षुष्मत्ता जनपदों के विषय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, उनकी आंखों में अपरिमित अर्थ भरा पड़ा था। इस अर्थवत्ता को हमें फिर से प्राप्त करना है, न केवल अध्ययन के क्षेत्र में, वरन् वास्तविक जीवन के क्षेत्र में भी। यदि हम अपनी देखने की शक्ति को परिमार्जित कर सकें तो जनपद के जीवन का अनन्त विस्तार हमारे सम्मुख प्रकट हो उठेगा। एक गेहूं के पौधे के पास खड़े होकर जिस दिन हम पहली बार उसके साथ मित्रता का हाथ बढ़ायेंगे, उसी दिन हम उसकी निजवार्ता से परिचित होकर नया आनन्द प्राप्त करेंगे।

किस प्रकार 'खोद्द' रूप में गेहूं का दाना जुड़ी हुई पत्तियों के साथ प्रथम जन्म लेता है, किस प्रकार नरई पड़ने से वह बड़ा होता है, किस प्रकार गर्मोदे के भीतर बाल के साथ घरिआए रहती हैं जो बढ़ने पर बाहर आ जाती हैं, और फिर किस प्रकार उन घरिआओं के भीतर मक्खन फूल बैठता है जब उसके भीतर का रस श्वेत दूध के रूप में बदल कर हमारे खेतों और जीवन को एक साथ लक्ष्मी के वरदान से भर देता है, मानो क्षीर सागर की पुत्री साक्षात् प्रकट होकर जनपदों में दर्शन देने आई हो—यही गेहूं की निज वार्ता है। यदि बर्फीली हवा न बहे, बढ़िया समा हो,

मोटी धरती हो और पानी लगा हो तो एक-एक गमौंदा राष्ट्र के जीवन का बीमा लेकर अपने स्थान पर खड़ा हुआ स्वयं हंसता है और अन्य सब को प्रसन्न करता है। गेहूं के पौधे का यह स्वरूप जनपदीय आंख की बढ़ी हुई शक्ति का एक छोटा-सा उदाहरण है। सुतिया-हंसली पहने हुए धान के पौधे जिनकी निगरती हुई बालें हवा के साथ झूलती हैं उसी प्रकार का दूसरा दृश्य उपस्थित करते हैं और इस प्रकार के न जाने कितने आनन्द-कारी प्रसङ्ग जनपदीय जीवन में हमें प्रतिदिन देखने को मिल सकते हैं।

जनपदीय अध्ययन का विद्यार्थी तीर्थ-यात्री की तरह देहात में चला जाता है, उसके लिए चारों ओर शब्द और अर्थ के भण्डार खुले मिलते हैं। नए-नए शब्दों से वह अपनी झोली भरकर लौटता है। जनपदीय जीवन का एक पक्का नियम यह है कि वहाँ हर वस्तु के लिए शब्द है। उस क्षेत्र में जो भी वस्तु है उसका नाम अवश्य है। कार्यकर्ता को इस बात का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। ठीक नाम को प्राप्त कर लेना उसकी अपनी योग्यता की कसौटी है। यदि हम इस सरल और स्वाभाविक ढग से किसी देहाती व्यक्ति को बातों में ला सकेंगे तो उसकी शब्दावली का भण्डार हमारे सामने आने लगेगा। उस समय हमें धैर्य के साथ अपने मन की चलनी से उन शब्दों को छान लेना चाहिए और बीच-बीच में हलके प्रश्नों के व्याज से चर्चा को आगे बढ़ाने में सहायता करनी चाहिए। जनपदीय व्यक्ति उस गौ के समान है जिसके थनों में मीठा दूध भरा रहता हो, किन्तु उस दूध को पाने के लिए युक्तिपूर्वक दुहने की आवश्यकता है। गांव का आदमी भारी प्रश्नों से उलझन में पड़ जाता है। उसके साथ बातचीत का ढंग नितान्त सरल होना चाहिए और प्रश्नकर्ता को बराबर उसीके धरातल पर रहकर बातचीत चलानी चाहिए। यदि हम उस धरातल से ऊपर उठ जायंगे तो बातचीत का प्रवाह टूट जायगा। जनपदीय कार्यकर्ता को उचित है कि अपनी जानकारी को पीछे रखे और अपने संवाददाता की जानकारी का उचित समादर करे और आस्था के साथ उसके विषय में प्रश्न पूछे। प्रश्न करते

समय यदि बीच में कहीं भूल या अटकाव हो तो उस भूले हुए प्रसंग को पीछे छोड़ कर प्रश्नों का तांता आगे बढ़ने देना चाहिए। बहुत सम्भव है कि अगली बातचीत के प्रसंग में पिछली भूल हाथ आ जाय और प्रश्नों की कड़ी पूरी हो जाय।

अहिछत्रा के चिम्मन कुम्हार की कृपा से बर्तन और खिलौने बनाने के लगभग सौ से ऊपर शब्द हमें प्राप्त हुए जिनकी पुरातत्व शास्त्र की दृष्टि से हमारे लिए बड़ी उपयोगिता और आवश्यकता थी। उससे हमने उस डोरे का नाम पूछा जिससे कुम्हार चाक पर से बर्तन को अलग करते हैं। उसने कहा उसे डोरा ही कहते हैं। और कुछ नहीं। मन में हमें विश्वास न हुआ किन्तु प्रकट रूप से बातों का क्रम चलाये रखा। थोड़ी देर में उसे स्वयं याद आया कि उस डोरे के लिए 'छेन' शब्द है। यह संस्कृत 'छेदन' प्रा० 'छेअन' का हिन्दी रूप है और कुम्हारों की पुरानी परिभाषा को सामने लाता है। इसी प्रकार चाक के पास में पानी रखने की हांडी के लिए भी 'चकैड़ी' शब्द प्राप्त हुआ जो मूल 'चक्र-भाण्डिका' से प्राकृत और अपभ्रंश में विकसित होकर अपने वर्तमान रूप तक पहुंचा है। इसी प्रकार अंग्रेजी Lughandle के लिये चुदां शब्द प्राप्त हुआ। उसने अपनी परिभाषा में बताया कि चाक पर रखी हुई मिट्टी के 'गुल्ले' से तीन फेरे में बर्तन बन जाता है। अर्थात्, पहले 'अंगूठा गड़ा कर फैलाना', फिर 'ऊपर को सूत कर सतर करना' और तब एक पोरा अन्दर और एक पोरा बाहर रखकर पिटार बनाना और अन्त में छेन से काट लेना। इस प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली भाषा की वर्णन शक्ति को विकसित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनपदीय जीवन से इसके सहस्रों उदाहरण प्राप्त किये जा सकते हैं। जब हमारी भाषा का सम्बन्ध जनपदों से जोड़ा जायगा, तभी उसे नया प्राण और नयी शक्ति प्राप्त होगी। गांवों की बोलियां हिन्दी भाषा का वह सुरक्षित कोष हैं जिसके धन से वह अपने समस्त अभाव और दलिद्दर को मिटा सकती है।

जनपदों की परिभाषा लेकर गांव के जीवन का वर्णन हमारे अध्ययन की बहुत बड़ी आवश्यकता है और इस काम को प्रत्येक कार्यकर्ता तुरन्त हाथ में ले सकता है। जनपदीय अध्ययन को विकसित करने के तीन मुख्य द्वार हैं :

पहला—भूमि और भूमि से सम्बन्धित वस्तुओं का अध्ययन।

दूसरा—भूमि पर बसने वाले जन का अध्ययन।

तीसरा—जन की संस्कृति या जीवन का अध्ययन। भूमि, जन और संस्कृति रूपी त्रिकोण के भीतर सारा जीवन समाया हुआ है। इस वर्गीकरण का आश्रय लेकर हम अपने अध्ययन की पगडंडियों को बिना पारस्परिक संकर के निर्दिष्ट स्थान तक ले जा सकते हैं।

भूमि सम्बन्धी अध्ययन के अन्तर्गत समस्त प्राकृतिक जगत् है जिसके विषय में कई सहस्र वर्षों से देश की जनता ने लगातार निरीक्षण और अनुभव के आधार पर बहुमूल्य ज्ञान एकत्र किया है। उसकी थाती देहाती जीवन में बहुत कुछ सुरक्षित है। अनेक प्रकार की मिट्टियों का और चट्टानों का वर्णन और उनके नाम, देश के कोने-कोने से एकत्र करने चाहियें। प्राकृतिक भूगोल के वर्णन के लिये भी शब्दावली जनपदों से ही प्राप्त करनी होगी। एक बार बम्बई की रेलयात्रा में चम्बल नदी के बाएं किनारे पर दूर तक फैली हुई ऊंची-नीची धरती और कटावदार कगार देखने को मिले। विचार हुआ कि इनका नाम अवश्य होना चाहिये। किन्तु उस बार यह नाम प्राप्त न हुआ। दूसरी बार की यात्रा में सौभाग्य से एक जनपदीय सज्जन से जो साथ यात्रा कर रहे थे उस भौगोलिक विशेषता के लिये उपयुक्त शब्द प्राप्त हुआ। वहां की बोली में उन्हें चम्बल के 'बेहड़' कहते हैं। सहस्रों वर्षों से हमारी आंखें जिन वस्तुओं को देखती रही हैं उनका नामकरण न किया होता तो हमारे लिये यह लज्जा की बात होती। जहां कहीं भी कोई प्राकृतिक विशेषता भूमि पर्वत अथवा नदी के विषय में है वहां की स्थानीय बोली में उसके लिये शब्द होना ही चाहिये। इस साधारण नियम की सत्यता देशव्यापी है। दो

शब्दों की सहायता के बिना पाठ्य पुस्तकों में हमारे प्राकृतिक भूगोल का वर्णन अधूरा रहता है। पहाड़ों में नदी के बर्फीले उद्गम स्थान (अंग्रेजी ग्लेशियर) के लिये आज भी 'वांक' शब्द प्रचलित है जो संस्कृत 'वक्त्र' से निकला है। साहित्य में नदी वक्त्र पारिभाषिक शब्द है। इसी प्रकार बर्फीली नदी के साथ आने वाले कंकड़ पत्थर के ढेर के लिये जो बर्फ के गलकर बह आने पर नदी प्रवाह में पड़ा रह जाता है (अंग्रेजी Morain) पर्वतीय भाषा में 'दालो गालो' शब्द चालू है। मिट्टी पानी और हवाओं का अध्ययन का भूमि सम्बन्धी अध्ययन विशेष अंग है। जलाशय, मेघ और वृष्टि सम्बन्धी कितना अधिक ज्ञान जनपदीय अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे आकाश में समय-समय पर जो मेघ छा जाते हैं उनके बिजोने, घोरने और बरसने का जो अनन्त सौन्दर्य है और बहुविध प्रकार हैं उनके सम्बन्ध में उपयुक्त शब्दावली का संग्रह और प्रकाशन हमारे कंठ को वाणी देने के लिये आवश्यक है। 'ऋतु संहार' लिखने वाले कवि के देश में आज ऋतुओं का वर्णन करने के लिये शब्दों का टोटा हो यह तो विडम्बना ही है। ऋतु-ऋतु में बहने वाली हवाओं के नाम और उनके प्रशान्त और प्रचंड रूपों की व्याख्या जनपदीय जीवन का एक अत्यन्त मनोहर पक्ष है। फागुन मास में चलने वाला फगुनहटा अपने हड़कम्पी शीत से मनुष्यों में कंपकपी उत्पन्न करता हुआ पेड़ों को झोर डालता है और सारे पत्तों का ढेर पृथ्वी पर आ पड़ता है। दक्षिण से चलने वाली दखिनिहा वायु न बहुत गर्म न बहुत ठंडी भारतीय ऋतु चक्र की एक निजी विशेषता है। वैशाख से आधे जेठ तक चलने वाली पच्छिवां या पछुआ अपने समय से आती है और फूहड़ स्त्रियों के आंगन का कूड़ा-कर्कट बटोर ले जाती है। आधे जेठ से पुरवइया हमारे आकाश को छा लेती है जिसके विषय में कहा जाता है :

भुइयां लोट चलै पुरवाई,
तब जानहु बरखा ऋतु आई।

भूमि में लोटती हुई धूल उड़ाती हुई यह तेज वायु सबको हिला

डालती है। किन्तु यही पुरवाई यदि चैत के महीने में चलती है तो आम 'लसिया' जाता है और बौर नष्ट हो जाता है, लेकिन चैत की पुरवाई महुए के लिये वरदान है। महुए और आम के अभिन्न सखा जानपद जन के जीवन में पुरवइया का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। जनपद वधुएं इसके स्वगत में गाती हैं—तनिक चलो हे पुरवा बहिन, हमें मेह की चाह लग रही है,

चय नेक चलो परवा भाण
मेहारी म्हारे लग रही चाय।

इसी प्रकार पानी को लाने वाली शूकरी हवा है जो उत्तर की ओर से चलती है और जिसके लिये राजस्थानी लोकगीतों में स्वागत का गान गाया गया है।

सूरया, उड़ी वादली ल्यायी रे
हे सूरया, उड़ना और बादली लाना, अथवा ...
रीतो मति आये, पाणी भर लावे
तों सूरया के संग आवे बदली।

अर्थात्...हे बदली रीती मत आइयो; पानी भर लाइयो, सूरया के संग आइयो।

हमारे आकाश की सबसे प्रचंड वायु हडहरा (सं० हविधारक) है जो ठेठ गर्मी में दक्खिन-पच्छिम के नैऋत्य कोण से जेठ मास में चलती है। यह रेगिस्तानी हवा प्रचंड लू के रूप में तीन दिन तक बहती रहती है जिसकी लपटों से चिड़िया चील तक झुलस कर गिर पड़ती हैं। यह वायु रेगिस्तानी समूम की तरह है जो अरबों के देश में काफी बदनाम है। मेघ और वायु के घनिष्ट सम्बन्ध पर जनपदीय अध्ययन से अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। देहाती उक्तियों में इस विषय की अच्छी सामग्री मिलती है।

पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का अध्ययन भी जनपदीय अध्ययन का एक विशेष अंग है। अनेक प्रकार के तृण, लता और वनस्पतियों से

हमारे जंगल भरे हुए हैं। एक एक घास, बूटी या रूखड़ी के पास जाकर हमारे पूर्वजों ने उसका विशेष अध्ययन किया और उसका नामकरण किया। आज भी भारतीय आयुर्वेद के वनस्पति सम्बन्धी नामों में एक अपूर्व कविता पाई जाती है। शंखपुष्पी, स्वर्णक्षीरी, काकजंघा, सर्पाक्षी, हंसपदी आदि नाम कविता के चरण हैं। प्रत्येक जनपद का सांगोपांग अध्ययन वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से पूरा होना आवश्यक है। इस विषय में गांवों और जंगलों के रहने वाले व्यक्ति हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकते हैं। देशी नामों को प्राप्त करके उनके सँस्कृत और अंग्रेजी पर्याय भी ढूँढ़ने चाहिएं। यह काम कुछ सुलझे हुए ढँग से जनपदीय मंडल की केन्द्रवर्ती संस्था में किया जा सकता है। वृक्ष वनस्पति के जीवन से, उनके फूलने-फलने के क्रम से हम चाहें तो वर्ष भर का तिथिक्रम बना सकते हैं हमारी पाठ्य पुस्तकें इस विषय में प्रचार का सबसे अच्छा साधन बनाई जा सकती हैं। आठ वर्ष की आयु से छोटे बच्चों को आस-पास उगने वाले फूलों और पेड़ों का परिचय कराना आवश्यक है और चौथी कक्षा से दसवीं कक्षा तक तो यह परिचय क्रमिक ढंग से अवश्य पढ़ाया जाना चाहिए। इससे देहात की प्रारम्भिक शालाओं में अपने जीवन के प्रति एक नई रुचि और नया आनन्द पैदा होगा। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि ज्ञान की यह नई सामग्री परीक्षा का बोझ लेकर कहीं हमारे भीतर प्रवेश न करने पावे। खिली धूप में गाने वाले स्वतंत्र पक्षी की तरह इसे हमारे ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। अध्ययन का यही दृष्टिकोण पक्षियों के विषय में भी सत्य है। देहात के जीवन में रंगबिरंगे पक्षियों का विशेष स्थान है। वहाँ कहते हैं कि भगवान् की रचना में साढ़े तीन दल होते हैं।

१. चींटी दल
२. टीढ़ी दल
३. चिड़ी दल

आधे दल में पोह और मानस हैं। पक्षियों के आने-जाने और

ठहरने के कार्य-क्रम से भी हम वर्ष भर का पंचाग निश्चित कर सकते हैं। छोटा सा सफेद ममोला पत्ती जो देखने में बहुत सुन्दर लगता है जाड़े का अन्त होते-होते चल देता है। उसके जाने पर कोयल वसन्त की उष्णता लेकर आती है और स्वयं कोयल उस समय हमसे विदा लेती है जब तुरई में फूल फूलता है। ऋतु-ऋतु और प्रत्येक मास में हमारे घरों में, वाटिकाओं और जंगलों में जो पत्ती उतरते हैं उनकी निजवार्ता और घरवार्ता अत्यन्त रोचक है जिससे परिचित होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हमारे निर्मल जलाशयों में क्रीड़ा करने वाले हँस और क्रौंच पत्ती किस समय यहाँ से चले जाते हैं, कहां जाते हैं और कब लौटते हैं, इसकी पहचान हमारी आंख में होनी चाहिए। इस प्रकार के सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा डगलस डेवर ने एक उपयोगी पुस्तक तैयार की था जिसका नाम है बर्ड-कैलेंडर आव नार्थ इँडिया। पक्षियों का अध्ययन हमारे देश में बहुत पुराना है। वैदिक साहित्य में पक्षियों का ज्ञान रखने वाले विद्वान् को वायोविद्यिक कहा गया है जिसका रूपान्तर पतंजलि के महाभाष्य में वायसविद्यिक पाया जाता है। राजसूय यज्ञ के अन्त में अनेक विद्याओं के जानने वाले विद्वानों की एक सभा लगती थी जिसमें वे लोग अपने-अपने शास्त्र का परिचय राजा को देते थे। व्यापक रूप में पत्ती भी राजा की प्रजा हैं और उनकी रक्षा का भार भी उस पर है। इस सभा में पक्षि-विशेषज्ञ देश के पक्षियों का परिचय राजा को देते थे। इस देश में पक्षियों के प्रति जो एक हार्दिक अनुराग की भावना छोटे-बड़े सबमें पाई जाती है वह संसार में अन्य किसी देश में नहीं मिलती जहाँ आकाश के इन वरद पुत्रों को हर समय तमंचे का खटका बना रहता है। पक्षियों के प्रति इस जन्मसिद्ध सौहार्द का संवर्द्धन हमें आगे भी करना चाहिए। इस देश की विशाल भूमि में देखने और प्रशंसा करने की जो अतुलित सामग्री है उस सबके प्रति मन में स्वागत का भाव रखना जनपदीय अध्ययन की विशेषता है। भूमि माता है

और मैं उसका पुत्र हूं (माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः) यह जनपदीय भावना का मूल सूत्र है।

जिस वस्तु का अपनी भूमि के साथ सम्बन्ध है, उसे ही भली प्रकार जानना और प्यार करना यह हमारा कर्तव्य है और अपने राष्ट्र के नवाभ्युत्थान में उसके उद्धार और उन्नति का उपाय करना यह उस कर्तव्य का आवश्यक परिणाम है। उत्तर से दक्षिण तक देश में फैली हुई गायों की नस्लें, घोड़े, हाथी, भेड़-बकरी सम्बन्धी वंश-वृद्धि और मँगल योजना के विषय में हमें रुचि होनी चाहिए। जब हम सुनते हैं कि इटावा प्रदेश की जमनापारी बकरी दूध देने में संसार भर में सबसे बढ़कर है, एवं जब हमें ज्ञात होता है कि लखनऊ के असील मुर्गों ने, जिनकी देह की नसें तारकशी की तरह जान पड़ती हैं ब्राजील में जाकर कुश्ती मारी है तो हमें सच्चा गर्व होता है। इसका कारण मातृ-भूमि का वह अखँड सम्बन्ध है जो हमें दूसरे पृथ्वी पुत्रों के साथ मिलाता है।

जनपदीय अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय मनुष्य स्वयं है। मनुष्य के विषय में यहाँ हम जितनी जानकारी प्राप्त कर सकें करनी चाहिए। ज्ञान साधन का प्रत्येक नया दृष्टिकोण जिसे हम विकसित कर सकें, मनुष्य-विषयक हमारी रुचि को अधिक गंभीर और रसमय बनाता है। इस देश में सैकड़ों प्रकार के मनुष्य बसते हैं, उनकी रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, उनके आचार-विचार, उनकी शारीरिक विशेषताएं, उनकी उत्पत्ति और वृद्धि, उनके संस्कार और धर्म, उनके नृत्य और गीत, उनके पर्व और उत्सव एवं भांति-भांति के आमोद-प्रमोद, उनके बीच के विशेष गुण एवं स्वभाव, उनके वेष और आभूषण, उनके निजी नाम एवं स्थान-नामों के विषय में जानने और खोज करने की रुचि और शक्ति हमें उत्पन्न करनी चाहिए, यही जनपदीय अध्ययन की सच्ची आँख है। इस आँख में जितना तेज आता जायगा उतने ही अधिक अर्थ को हम देखने लगेंगे। भगवान् वेदव्यास की बताई परिभाषा के अनुसार यहाँ मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है :

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

मनुष्य हमारे जनपदीय मंडल के केन्द्र में है। उसका आसन ऊँचा है। स्वयं मनुष्य होने के नाते सम्पूर्ण मानवीय जीवन में हमें गहरी रुचि होनी चाहिए। बीते हुए अनेक युगों की परम्परा वर्तमान पीढ़ी के मनुष्य में साक्षात् प्रकट होती है। आने वाले भविष्य का निर्माता भी यही मनुष्य है। हमारे पूर्वजों ने कर्म, वाणी, और मन से जो कुछ भी सिद्धि प्राप्त की उस सबकी थाती वर्तमान मानव-जीवन को प्राप्त हुई है। इतने गम्भीर उत्तराधिकार को लिए हुए जो मनुष्य हमारे सम्मुख है उसकी विचित्रता कहने की नहीं अनुभव करने की वस्तु है। मानव-जीवन के वर्तमान ताने-बाने के भीतर शताब्दियों और सहस्राब्दियों के सूत्र ओत-प्रोत हैं। विचारों और संस्थाओं की तहें क्रमानुसार एक-दूसरे के ऊपर जमी हुई मिलेंगी और इन पर्तों को यदि हम सावधानी के साथ अलग कर सकेंगे तो हमें अनेक युगों का संस्कृतियों का विचित्र आदान-प्रदान एवं समन्वय दिखाई देगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारत-वर्ष समन्वय-प्रधान देश है। समन्वय-धर्म ही यहाँ की सार्वभौम संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। अनेक विभिन्न संस्कृतियों के अनमिल और अनगढ़ विचार और व्यवहार यहाँ एक-दूसरे से टकराते रहे हैं और अन्त में सहिष्णुता और समन्वय के मार्ग से सहानुभूतिपूर्वक एक साथ रहना सीखे हैं। परस्पर आदान प्रदान के द्वारा जीवन को ढालने की विलक्षण कला इस देश में पाई जाती है। जिस प्रकार हिमालय के शिलाखंडों को चूर्ण करके गंगा की शाश्वत धारा ने उत्तरापथ की भूमि का निर्माण किया है जिसके रजकण एक दूसरे से सटकर अभिन्न बन गए हैं और जिनमें भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है। कुछ उसी प्रकार का एकीकरण भारतीय संस्कृति के प्रवाह में पली हुई जातियों में हुआ है। किसी समय इस देश के विस्तृत भूभाग में निषाद जाति का बसेरा था, उसी जाति के एक विशेष व्यक्ति गुह निषाद की कथा हमारे रामचरित

से सम्बन्धित है। गुह निषाद के वंशज आज भी अवध के उत्तर-पूर्वी भाग में बसे हुए हैं किन्तु आज उनकी संस्कृति हिन्दू धर्म की विशाल संस्कृति के साथ घुलमिल कर एक बन चुकी है। जितना कुछ उनका अपना व्यक्तित्व था वे उसे छोड़ने के लिये वाधित नहीं हुए, उसकी रक्षा करके भी वे एक अपने से ऊँची संस्कृति के अंक में प्रतिपालित होकर उसके साथ एक हो गए। समन्वय की इसी प्रक्रिया (acculturation) का नाम हिन्दूकरण पद्धति है। क्या जनपद और क्या नगर, इस प्रकार के समन्वय का जाल सर्वत्र बुना हुआ है किन्तु जनपदों की प्रशान्त गोद में इस प्रकार के प्रीति सम्पन्न समन्वय का अध्ययन विशेष रूप से किया जा सकता है, जहाँ आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से विषमताएँ एक मर्यादा के भीतर रहती हैं।

अध्ययन के जिन दृष्टिकोणों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें से जिस किसीको भी हम लें हमारे सामने रोचक सामग्री का भंडार खुल जाता है। उदाहरण के लिये, किसी गाँव में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के व्यक्तिवाची नामों को ही हम लें, तो उन नामों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्द रूपों का रोचक सम्मिश्रण दिखाई पड़ेगा। गाँव का सिब्बा नाम वही है जिसका संस्कृत रूपान्तर शिवदत्त या शिव के साथ अन्य कोई पद जोड़ने से बनता है। व्याकरण के ठोस नियमों के अनुसार उत्तर पद का लोप कर नाम को छोटा बनाने की प्रथा लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। उत्तर पद के लोप का सूचक क प्रत्यय जोड़ने की बात वैयाकरण बताते हैं। इसके अनुसार शिवदत्त का रूप शिवक बनता है। शिवक का प्राकृत में सिवअ और उसीका अपभ्रंश में सिब्बा रूप हुआ। गाँवों का कल्लू या कलुआ संस्कृत कल्याणचन्द्र या कल्याणदत्त का ही रूपान्तर है। कल्य का कल्ल और कल्ल से उक प्रत्यय जोड़कर कल्लुक रूप बनता था जिसका प्राकृत एवं अपभ्रंश में कल्लुव या कलुआ होता है, अथवा इससे ही कल्लू एवं काल्लू रूप बनते हैं। अपभ्रंश भाषा के युग में इस प्रकार के नामों

की बाढ़-सी आ गई थी और प्रायः सभी नामों को अपभ्रंश का चोला पहनना पड़ा था। नानक जैसा सरल नाम प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मूल संस्कृत ज्ञानदत्त से बना है। ज्ञान, प्रा० णाण, हिन्दी नान+क ये इस विकास के तीन चरण हैं। इसी प्रकार मुग्ध से मूधा स्निग्ध से नीधा, विपुलचन्द्र से बूलचन्द्र आदि नाम हैं। ठेठ गँवारू नामों का भी अपना इतिहास होता है। छीतर फिक्कू, पवारू नामों के पीछे भी पुराने विश्वासों का रहस्य छिपा है जो भाषा-शास्त्र और जन-विश्वासों की सहायता से समझा जा सकता हैं। मनुष्य नामों की तरह जनपदीय जीवन का दूसरा विस्तृत विषय स्थान नाम है। प्रत्येक गाँव, खेड़े, नगले के नाम के पीछे भाषा-शास्त्र से मिश्रित सामाजिक इतिहास का कोई-न-कोई हेतु है। न्यग्रोध ग्राम से निगोहा, प्लक्ष गाँव से पिलखुवा, गंधकुलिका से गंधौली, सिद्धकुलिका या सिद्धपल्ली से सिधौली, मिहिरकुलिका या मिहिरपल्ली से मैहरौली, आदि नाम बनते हैं। गाँवों में तो प्रत्येक खेत तक के नाम मिलते हैं, जिनके साथ स्थानीय इतिहास पिरोया रहता है। शीघ्र ही समय आयेगा जब हम स्थान नाम परिषदों का संगठन करके इन नामों की जांच-पड़ताल करने लगेंगे। दूसरे देशों में इस प्रकार की छानबीन करनेवाली परिषदों के बड़े-बड़े संगठन हैं और उन्होंने अध्ययन और प्रकाशन का बहुत कुछ काम किया भी है।

जनपदीय अध्ययन की जो आँख है उसकी ज्योति भाषा-शास्त्र की सहायता से कई गुना बढ़ जाती है। भाषा-शास्त्र में रुचि रखने वाले व्यक्ति के लिये तो जनपदीय अध्ययन कल्पवृक्ष के समान समझना चाहिए। किसान के जीवन की जो विस्तृत शब्दावली है उसमें वैदिक काल से लेकर अनेक शताब्दियों के शब्द संचित हैं। हम यदि चाहें तो प्राचीन काल की बहुत-सी ऐसी शब्दावली का उद्धार कर सकते हैं जिसका साहित्य में उल्लेख नहीं हुआ। मानव श्रौतसूत्र में हसिया के लिये असिद शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसीसे लोक में हसिया शब्द बना है। किन्तु उसका साहित्यिक प्रयोग वैदिक काल के उपरान्त फिर देखने में

नहीं आया। केवल हेमचन्द्र ने एक बार उसे देशी शब्द मानकर अपनी देशीनाममाला में उद्धृत किया है। इसी प्रकार श्रौतसूत्रों में प्रयुक्त इण्डु शब्द का रूप लोक में इंडरी या इंडुरी आज भी चालू है यद्यपि उसका साहित्यिक स्वरूप फिर देखने में नहीं आया। गेहूं की नाली, मूंज या घास आदि से बटी हुई रस्सी के लिये पुराना वैदिक शब्द यून था जिसका रूपान्तर जून किसानों की भाषा में जीवित है। उससे निकला हुआ बर्तन मांजने का जूना शब्द बहुत-सी जगह प्रचलित है।

इस प्रकार के न जाने कितने शब्द भरे हुए हैं। भाषा-शास्त्री के लिये जनपदीय बोलियां साक्षात् कामधेनु के समान हैं। दो हजार डेढ़ हजार वर्षों के बिछुड़े हुए शब्द तो इन बोलियों में चलते-जाते हाथ लगते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अनेक धात्वादेशों की धात्री जनपदों की बोलियां हैं। हिन्दी भाषा की शब्द निरुक्ति के लिये हमें जनपदीय बोलियों के कोषों का सर्वप्रथम निर्माण करना होगा। बोलियों में शब्दों के उच्चारण और रूप जाने बिना शब्द की व्युत्पत्ति का पूरा पेटा नहीं भरा जा सकता। बोलियों की छानबीन होने के उपरान्त कई लाभ होने की सम्भावना है। प्रथम तो इन कोषों में हमारे प्रादेशिक जीवन का पूरा ब्योरा आ जाएगा। दूसरे, शब्द नामक ज्योति जीवन के अन्धेरे कोठों को प्रकाश से भर देगी। तीसरे, जनपदों के बहुमुखी जीवन के शब्दों को पाकर हमारी साहित्यिक वर्णना-शक्ति विस्तार को प्राप्त होगी।

हिन्दी भाषा में जनपदों के भंडार से लगभग ५० सहस्र नये शब्द आ जायेंगे, और भौतिक वस्तुओं एवं मनोभावों को व्यक्त करने के लिये जोगाजोग शब्दावली पाने का हमारा टोटा मिट जायगा। जनपदों के साथ मिलकर हमारी भाषा को अनेक धातुएँ, मुहावरे और कहावतों का अद्भुत भंडार प्राप्त होगा। कहावतें हमारी जातीय बुद्धिमत्ता के समुचित सूत्र हैं। शताब्दियों के निरीक्षण और अनुभव के बाद जीवन के विविध व्यवहारों में हम जिस संतुलित स्थिति तक पहुंचते हैं

लोकोक्ति उसका संक्षिप्त सत्यात्मक परिचय हमें देती है। साहित्य के अन्य क्षेत्र में सूत्रों की शैली को हमने पीछे छोड़ दिया, किन्तु लोकोक्तियों के सूत्र हमारे चिरसाथी रहे हैं और आगे भी रहेंगे। लोकोक्तियों के रूप में समस्त जाति की आत्मा एक बिन्दु या कूट पर संचित होकर प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिये माँ के प्रति जो हमारी सर्वमान्य पुरानी श्रद्धा है वह इस उक्ति में जो हमें बैसवाड़ा के एक गाँव में प्राप्त हुई कितने काव्यमय ढंग में अभिव्यक्त मिलती है :

स्वाति के बरसे, माँ के परसे तृप्ति होती है

बुन्देलखण्डी एक उक्ति है :

अक्कल बिन पूत कठैंगर से
बुद्धी बिन बिटिया ढैंगुर सी

प्रत्येक व्यक्ति में बूझ और समझ के लिये जो हमारा प्राचीन आदर का भाव है, पंचतंत्र-हितोपदेश आदि नीति उपदेशों के द्वारा जिस नीति निपुणता की प्रशंसा की गई है, जिस बुद्धिमत्ता का होना ही सच्ची शिक्षा है, स्त्री और पुरुष दोनों के लिये जिसकी आवश्यकता है, उस बुद्धि अथवा अक्ल की प्रशंसा में सारे जनपद की आत्मा इस लोकोक्ति में बोल पड़ी है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कठैंगर संस्कृति का 'काष्ठार्गल' (वह डंडा जो किवाड़ों के पीछे अटकाव के लिये लगाया जाता है) और ढैंगुर 'दंडार्गल' (वह डंडा जो पशुओं को रोकने के लिये उनके गले से लटका दिया जाता है) के रूप हैं। प्रत्येक जनपदीय क्षेत्र से कई-कई सहस्र कहावतें मिलने की सम्भावना है। उनका उचित प्रकाशन और संपादन हिन्दी साहित्य की अनमोल वस्तु होगी। यह भी नियम होना चाहिए कि जनपदीय शालाओं में पढ़ाई जाने वाली पोथियों में स्थानीय सैकड़ों कहावतों का प्रयोग किया जाय। दशम श्रेणी तक पहुँचते-पहुंचते विद्यार्थी को अपनी एक सहस्र लोकोक्तियों का अर्थ सहित अच्छा ज्ञान करा देना चाहिए।

भारतवर्ष का जो कृषिप्रधान जीवन है उसकी शब्दावली प्राचीन समय में क्या थी, साहित्य में इसका लेखा नहीं बचा; किन्तु जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से हम उसे फिर प्राप्त कर सकते हैं। इससे प्राचीन भारतीय जीवन पर एक नया प्रकाश पड़ेगा। खेतों की जुताई, बुआई, कटाई और मंड़नी से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों को पंजाब से बंगाल तक और युक्तप्रान्त से गुजरात-महाराष्ट्र तक के जनपदों से यदि हम एकत्र करें तो संस्कृतमूलक समान शब्दों का एक व्यापक ताना-बाना बुना हुआ मिलेगा। कुछ शब्द अपनी-अपनी बोलियों में भिन्न भी होंगे किन्तु समान शब्दों के आधार से हम प्राचीन शब्दावली तक पहुंच सकेंगे। खेत काटने वाले के लिये लावा (सं० लावक), गन्ना काटने वाले के लिये कपटा (संस्कृत क्लृप्ता) ऐसे शब्द हैं जो हमें तुरन्त पुरानी परंपरा तक पहुँचा देते हैं। आज भी मेरठ के गाँव-गाँव में वे चालू हैं। कुएँ की आन्हर (सं० अँघ्रि=चरण), छींटकार बीज बोने के लिये पवेड़ना धातु, (सं० प्रवेरिता), जवान बछिया के लिये ओसर, सं० उपसर्या (गर्भधारण के योग्य) आदि अनेक शब्द प्राचीन परम्परा के सूचक हैं। मध्यकाल के आरम्भ में जब मुसलमान यहाँ आए तो हमारे नागरिक जीवन में बहुत-से परदेशी शब्दों का चलन हो गया और अपने शब्द मर गए। किन्तु कृषि शब्दावली में अपना स्वराज्य बना रहा और कचहरी के शब्दों को छोड़कर जिनका केन्द्र शहरों में था शेष शब्दावली पुरानी ही चालू रही। इस सत्य को पहचान कर हम भाषा-शास्त्र की सहायता से अनेक जनपदीय शब्दों के साथ नया परिचय पा सकते हैं। आवश्यक शोध और व्याख्यानों के द्वारा इस कार्य को आगे बढ़ाना होगा। कृषि के साथ ही भिन्न-भिन्न पेशेवर लोगों के शब्द हैं जिनका संग्रह और उद्धार करना चाहिए। दिल्ली के अंजुमन तरक्किए उर्दू की ओर से इस प्रकार का कुछ कार्य किया गया था और उस संस्था की ओर से पेशेवर लोगों की शब्दावली आठ भागों में फरहंगे इस्तलाहात ए पेशेवरान छप चुकी हैं,

किन्तु यह काम उससे बहुत बड़ा है और इसमें सीखे हुए भाषा-शास्त्र से परिचित कार्यकर्ताओं की सहायता की आवश्यकता है। अकेले रंगरेज की शब्दावली से विविध रंग और हलकी चटकीली रंगतों के लिये लगभग दो सौ शब्द हम प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु जनपदीय अध्ययन के लिये शब्दों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण जनपदीय मनोभावों से परिचय प्राप्त करना है। जनपदीय मानव के हृदय में सुख-दुख, प्रेम और घृणा, आनन्द और विरक्ति, उल्लास और सुस्ती, लोभ और उदारता आदि मन के अनेक गुण-अवगुणों से प्रेरित होकर विचारने और कर्म करने की जो प्रवृत्ति है उसका स्पष्ट दर्शन किस साहित्य में हमें मिलता है? जनपदीय मनोभावों का दर्पण साहित्य तो अभी बनने के लिए शेष है। ग्रामवासिनी भारत माता का पुष्कल परिचय प्राप्त करना हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीय चरित्र और प्रकृति या स्वभाव के ज्ञान के लिये हमें इस प्रकार के जनपदीय साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से जनपदीय जीवन का चित्र उतारने वाले जितने भी परिचय ग्रन्थ या उपन्यास लिखे जायँ स्वागत के योग्य हैं। बड़े विषयों पर लिखना अपेक्षाकृत सरल है, किन्तु उस लेखक का कार्य कठिन है जो अपने आपको जनपदीय सीमा के भीतर रखकर लिखता है और जो बाहरी छाया से जनपदीय जीवन के चित्र को विकृत या लुप्त नहीं होने देता। इस प्रकार का साहित्य अन्ततोगत्वा पृथ्वी के साथ हमारे सम्बन्ध और आस्था का परिचायक साहित्य होगा।

जनपदीय अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और गहरा है उसमें अपरिमित रस और नवीन प्रकाश भी है। जीवन के लिये उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। उस अध्ययन के सफल होने के लिये सधे हुए ज्ञान और समझदारी की भी आवश्यकता है। मानसिक सहानुभूति और शारीरिक श्रम के बिना यह कार्य पनप नहीं सकता। जनपदीय अध्ययन की आँख लोक का वह खुला हुआ नेत्र है जिसमें सारे अर्थ

दिखाई पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों इस नेत्र में देखने की शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों भूतत्व में छिपे हुए रत्न और कोषों की भाँति जनपदीय जीवन के नये-नये भंडार हमारे दृष्टिपथ में आते-जाते हैं। जनपदीय चक्षुष्मत्ता-साहित्यिक का ही नहीं प्रत्येक मनुष्य का भूषण है; उसकी वृद्धि जीवन की आवश्यकता के साथ जुड़ी है। अशोक के शब्दों में जानपद जन का दर्शन हमारी जनपदीय आँख की सच्ची सफलता है।

: ५ :

जानपद जन

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने गाँवों की भारतीय जनता के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया था वह सम्मानित शब्द है 'जानपद जन'। अशोक के लेखों का पारायण करते हुए हमें बहुमूल्य शब्द का परिचय मिलता है। सात लाख गाँवों में बसने वाली जनता को हम इस पवित्र नाम से संबोधित कर सकते हैं। इस समय इस प्रकार के उच्चाशय से भरे हुए एक सरल नाम की सर्वत्र आवश्यकता है। एक ओर साहित्यिक जीवन में साहित्यसेवी विद्वान् जनपद कल्याणीय योजनाओं पर विचार करने में लगे हैं एवं सामाजिक जीवन में नगर की परिधि से घिरे हुए नागरिक जन विशाल लोक के स्वस्थ और स्वच्छन्द वातावरण में खुल कर श्वास लेने के लिये आकुल हैं, दूसरी ओर राजनैतिक जीवन में भी ग्रामवासी जन समुदाय की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ है। चिरकाल से भूले हुए जानपद-जन की स्मृति सबको पुनः प्राप्त हो रही है और जानपद जन को पुनः अपने उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा सब जगह एक-सी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक क्षेत्र में उठने वाले नवीन आन्दोलनों की यह एक सर्वत्रव्यापी विशेषता है।

ऐसे समय भारत के प्रिय सम्राट् महाराज अशोक के हृदय से निकले हुए जनता के इस प्रिय नाम 'जानपद जन' का हमें हार्दिक स्वागत करना चाहिए। अशोक के हृदय में देश की प्राणभूत शत सहस्र जनता के लिये अगाध प्रीति थी। उसके साथ साक्षात् सम्पर्क प्राप्त करने के लिये उन्होंने

कई नए उपायों का अवलम्बन किया। अभी उनको सिंहासन पर बैठे दस ही वर्ष हुए थे कि पहले राजाओं की विहार-यात्राओं को रद्द करके लोकजीवन से स्वयं परिचित होने के लिये उन्होंने एक नए प्रकार के दौरे का विधान किया जिसका नाम धर्मयात्रा रखा गया। इसका उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित था।

'जान पदसा च जनसा दसने धमंनुसथि च धम पलिपुछा च'

(अष्टम शिलालेख)

आज भी चकराता तहसील में यमुना और तमसा के संगम पर स्थित कालसी गाँव में हिमालय के एक शिलाखंड पर ये शब्द खुदे हुए हैं। धर्म के लिये होने वाले इन दौरों का उद्देश्य था—

१—जानपद जन का दर्शन,

२—उनको धर्म की शिक्षा, और

३—उनके साथ धर्मविषयक वार्ता करना।

पृथ्वी को अलंकृत करने वाले वैभवशाली सम्राट् के ये सरलता से भरे हुए उद्गार हैं। जहां पहले राजाओं को देखने के लिये प्रजा को आना पड़ता था, वहां अब स्वयं सम्राट् उनके बीच जाकर उनसे मेल-जोल बढ़ाना चाहते हैं। जानपद जन का दर्शन सम्राट् प्राप्त करे, यह भावना कितनी उदार, शुद्ध और उच्च है। इसीलिए एच० जी० वेल्स सरीखे ऐतिहासिकों का कहना है कि अशोक के हृदय से तुलना करने के लिये संसार का और कोई सम्राट् सामने नहीं आता। जानपद जन के सम्पर्क में आकर सम्राट् उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाना चाहते हैं, यही उस समय की वास्तविक लोकशिक्षा थी। धार्मिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए भी जनता के लौकिक कल्याण की बात को अशोक ने नहीं भुलाया। प्रथम तो उन्होंने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये जनता की सीधी-सादी ठेठ भाषा का सहारा लिया। राज-काज में भाषा संबंधी यह परिवर्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का प्रतीक था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट्

के धर्म-स्तम्भों पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जाएगी। तुष्ट की जगह 'तूठ' ब्राह्मण की जगह 'बंभन' और पौत्र के लिये 'पोता' ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं। जानपद जन का परिचय पाने के लिये जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यन्त आवश्यक है। जानपद जनके प्रति श्रद्धा होने के लिये जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए।

अशोक ने लोकस्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह किया था कि एक विशेष पद के राजकीय पुरुष निुयुक्त किए जिनका कार्य केवल जानपद जन के हित-सुख की चिंता करना था। उनको लेख में राजुक कहा गया है। ये लोग इतने विश्वसनीय, नीति-धर्म के पक्के, आचार में सुपरीक्षित और धर्मनिष्ठ थे कि अशोक ने स्वयं लिखा है, "जैसे कोई व्यक्ति सुपरिचित धात्री के हाथ में अपनी संतान को सौंप कर निश्चिन्त हो जाता है वैसे ही मैं जनपदीय हित-सुख के लिये राजुकों को नियुक्त करके निश्चिन्त हुआ हूँ।"—"हेवं मम लाजूक कट जानपदस हित सुखाए।" "जानपद जन के हित-सुख के लिये"—सम्राट् के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

'ये लोग बिना किसी भय के, उत्साह के साथ मन लगाकर अपना कर्तव्य करें, इसलिये मैंने इनके हाथ में न्याय के साथ व्यवहार करने और दंड देने के अधिकार सौंप दिए हैं।' जानपद जन के लिये न्याय की प्राप्ति उनके अपने क्षेत्र में ही सुलभ कर देना सम्राट् का एक बड़ा वरदान था।

इस प्रकार प्रियदर्शी अशोक ने जानपद जन को शासन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करके एक नवीन आदर्श की स्थापना की। जानपद जन के प्रति उनकी जो कल्याणमयी भावना थी उसीसे जनता को पुकारने वाले इस सरल सुन्दर और प्रिय नाम का जन्म हुआ।

प्राचीन भारत में जानपद जन का जो सरल और सुखमय जीवन

था, उसका प्रदर्शन करने वाले तीन चित्र यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं :—

चित्र १—अवनी का यह दृश्य आन्ध्र देश के कृष्णा जिले के शिंगवरं स्थान से प्राप्त विक्रम की चौथी शताब्दी पूर्व की आहत मुद्रा से लिया गया है। चांदी के कार्षापण पर आहत इस रूप (सिंबल) में खेत की बोवाई का दृश्य है। पोढ़े और बड़े हल की सहायता से दो बैल खेत जोतते हुए दिखाए गए हैं।

चित्र २—यह चित्र भी शिंगवरं के एक चांदी के कार्षापण से लिया गया है। इसमें खलिहान में अनाज की मँड़नी का दृश्य है। बीच में एक छायादार वृक्ष है। दोनों ओर चार-चार बैल पयर (संस्कृत, प्रकर) या चकही के ऊपर घूमते हुए दाँय चला रहे हैं। इसीके बाद भूसी और अन्न अलग हो जाते हैं। अन्न का ढेर रास (सं० राशि) कहलाने लगता है। राशि किसान के परिश्रम का मूर्त्तिमान रूप है, मानो क्षेत्र-लक्ष्मी का जगमग दर्शन रास के रूप में किसान को मिलता है।

चित्र ३—यह चित्र गोरखपुर से १४ मील दक्षिण में स्थित सोहगौरा स्थान से प्राप्त ताम्रपट से लिया गया है। इसमें दो कोष्ठागार या अन्न के बृहत् भंडार दिखाए गए हैं। अन्न की राशि खेत से उठ कर कोठारों में भरी जाती थी। ये दो राजकीय कोठार हैं। ताम्रपट में लिखा है कि दुर्भिक्ष निवारण के लिये राज्य की ओर से ये कोठार सदा अन्न से भरपूर रखे जाते थे। लेख मौर्यकालीन (विक्रम से लगभग चौथी शताब्दी पूर्व) का माना गया है। इसमें श्रावस्ती के महामात्यों को आज्ञा दी गई है कि अकाल के समय इन अन्न-भंडारों को प्रजा में वितरण के लिये खोल दिया जाए। राज्य की ओर से प्रजाओं के भरण-पोषण के लिये जो दूरदर्शिता बरती जाती थी, श्रावस्ती के ये कोठागार उसके चिरंजीवी दृष्टान्त हैं।

महास्थान (बोगरा जिला, पूर्वी बंगाल) में मिले हुए एक-दूसरे अभिलेख में, जो विक्रम पूर्व लगभग चौथी शताब्दी का है, दुर्भिक्ष के

समय ऐसे ही कोष्ठागारों के खोले जाने का उल्लेख है। लिखा है—
पुंड्र नगर के महामात्य इस आज्ञा का पालन कराएंगे। सत्रंगीयों के उप-
भोग के लिये धान दिया गया है। इस दैवी विपत्ति (दैवात्यथिक) के
समय नगर पर जो घोर अन्न-संकट आया है, उससे पार उतरना
चाहिए। जब सुभिक्ष होगा तब कोष्ठागार फिर धान से और कोष गंडक
मुद्राओं से भर दिए जाएंगे।' (एपिग्राफिया इंडिका २१।८५)।

: ६ :

जनपदों का साहित्यिक संगठन

जनपदी बोलियों का कार्य हिन्दी-भाषा का ही कार्य है, वह व्यापक साहित्य अभ्युत्थान का एक अभिन्न अंग है। हिंदी की पूर्ण अभिवृद्धि के लिये जनपदों की भाषाओं से प्रचुर सामग्री प्राप्त करने का कार्य साहित्य-सेवा का एक आवश्यक अंग समझा जाना चाहिए। इसी भाव से कार्यकर्त्ता इस काम में लगें तो भाषा और राष्ट्र दोनों का हित हो सकता है।

मुझे तो जनपदों की भाषाओं का कार्य एकदम देवकार्य जैसा पवित्र और उच्चाशय से भरा हुआ प्रतीत होता है। यह उठते हुए राष्ट्र की आत्मा को पहचानने जैसा उदार कार्य है, क्योंकि इसके द्वारा हम कोटि-कोटि जन समुदाय की मूल साहित्यिक प्रेरणाओं के साथ सान्निध्य प्राप्त करने चलते हैं। साहित्य का जो नगरों में पालापोसा गया रूप है, जिसे हम भगवान् चरक की भाषा में 'कुटी प्रावेशिक' कह सकते हैं, उसके दायरे से बाहर निकल कर जनपदों की स्वच्छन्द वायु और सूर्य की धूप में पनपने वाले साहित्य के 'वातातपिक' स्वरूप की परख करने में हम जितने अग्रसर होंगे, उतने ही जनता और साहित्यकारों के तथा लोक जीवन और साहित्य के बीच पड़ी हुई गहरी खाई को पाटकर उसपर एक सर्वजन सुलभ सेतु बांधने में हम सफल हो सकेंगे।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग देहातों में है। उसकी भावना की क्रीड़ास्थली ये देहात ही हैं। इन्हींका साहित्यिक नाम जनपद है।

मैं तो यहां तक कहूँगा कि जनपदों की संस्कृति का अध्ययन हमारे राष्ट्र की मूल आध्यात्मिक परम्पराओं का अध्ययन है, जिनके द्वारा हमारे जीवन की गंगा का प्रवाह बाहरी कल्मषों से अपनी रक्षा करता हुआ आगे बढ़ता रहा है।

व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी, चरक और पाणिनि इन सबका अध्ययन जनपदीय दृष्टिकोण से हमें फिर से प्रारंभ करना है। किसी समय इन महासाहित्यकारों की कृतियां जनपदों के जीवन में बद्धमूल थीं। जिस समय वेदव्यास ने द्रौपदी की छवि का वर्णन करते हुए तीन वर्ष की श्वेत रंगवाली गौ को (सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायनी—विराट १७-११) उपमान रूप में कल्पित किया, जिस समय वाल्मीकि ने अराजक जनपद का गीत गाया, जिस समय कालिदास ने मक्खन लेकर उपस्थित हुए ग्रामवृद्धों से राजा का स्वागत कराया (हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्) और जब पाणिनि ने अष्टाध्यायी में सैकड़ों छोटे-छोटे गांवों और बस्तियों के नाम लिखे और उनके बहुमुखी व्यवहारों की चर्चा की, उस समय हमारे देश में और जनपद जीवन के बीच एक पारस्परिक सहानुभूति का समझौता था। दुर्भाग्य से रस-प्रवाह के वे तंतु टूट गए। हमारे साहित्य का क्षेत्र भी संकुचित हो गया और हम अपनी जनता के अधिकांश भाग के सामने परदेशी की भांति अजनबी बन बैठे। आज नवचेतना के फगुनहटे ने राष्ट्रीय कल्पवृक्ष को झकझोर कर पुराने विचाररूपी पत्तों को धराशायी कर दिया है। सर्वत्र नए विचार, नए मनोभाव और नई सहानुभूति के पल्लव फूट रहे हैं। गांव और नगर दोनों एक ही साधारण जीवन की परिधि में सहज तंतुओं से एक-दूसरे के साथ गुंथकर फिर एक ज्ञान की भूमि से अपना पोषण प्राप्त करने के लिये एक दूसरे की ओर बढ़ रहे हैं यही वर्तमान साहित्यिक प्रगति की सबसे अधिक स्पृहणीय विशेषता और आशा है। हम गांवों के गीतों में काव्य-सुधा का पान करने लगे हैं, जनपदों की बोलियां हमारे लिये वैज्ञानिक अध्ययन की

सामग्री का उपहार लिए खड़ी है। कहीं लुधियानी के उच्चारणों का अध्ययन हो रहा है, कहीं हर मुकुट पर्वत पर बैठकर भाषा-विज्ञान के वेत्ता सिन्धु नद की उपत्यका के एक छोटे गांव की बोली का अध्ययन कर रहे हैं, कहीं दरद देश की प्राचीन पिशाचवर्गीय भाषा की छानबीन हो रही है, कहीं प्राचीन उपरिश्येन (हिंदूकुश) पर्वत की तलहटी में बसने वाले छोटे-छोटे कबीलों की मुंजानी और इश्काश्मी बोलियों का व्याकरण बन रहा है। और यह सब कार्य कौन करा रहा है? वही राष्ट्रीय कल्पवृक्ष के रोम रोम में नवीन चेतना की अनुभूति इस कार्य-जाल की मूलप्रेरक शक्ति है। इस कार्य का अधिकांश सूत्रपात और मार्गप्रदर्शन तो विदेशी विद्वानों के द्वारा हुआ है और हो रहा है। हम हिंदी के अनुचर तो अभी बड़े सतर्क होकर फूँक-फूँक कर पैर रख रहे हैं।

प्रचंड शक्तिशालिनी हिंदी भाषा की विभूति का विशाल मंदिर जानपदी भाषाओं को उजाड़ कर नहीं बन सकता वरन् इस पंचायतनी प्रासाद की दृढ़ जगती में सभी भाषाओं और बोलियों के सुगढ़ प्रस्तरों का स्वागत करना होगा। हम सोए पड़े थे, मगर अध्यवसायी टर्नर महोदय नेपाली बोली का निरुक्त कोष सम्पन्न कर चुके। हम अभी जंभाई लेकर आंखें मल रहे थे, उधर वे ही मनीषी जागरूक बनकर हिंदी-भाषा का उसकी बोलियों के आधार से एक विराट् निरुक्त कोष रचने में अहर्निश दत्त हैं।

कार्य अनन्त है। हमारे कार्यकर्त्ता गिनती के हैं। उनके साधन भी परिमित हैं। वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करने की कला भी हममें से बहुतों को सीखनी है। फिर पारस्परिक स्पर्धा का अवसर ही कहां रहता है! जानपदी बोलियों का कार्य हिंदी का अपना ही कार्य है। उनके विकास और वृद्धि के मुहूर्त्त में हिंदी के ऋत्विकों को स्वस्त्ययन मंत्रों का पाठ ही करना चाहिए। जो लोग जनपदों को अपना कार्य-क्षेत्र बना रहे हैं वे भी हिंदी के वैसे ही अनन्य भक्त हैं और हमारा विश्वास है कि

उनका यह कार्य हिंदी के विशाल कोष को और भी अधिक समृद्ध बनाने के लिये ही है। जनपदों के कार्यकर्त्ताओं के लिये कार्यक्रम की रूपरेखा अन्यत्र दी जा रही है। तदनुसार प्रत्येक क्षेत्र में कार्यपद्धति का ढांचा बनाया जाना चाहिए।

: ७ :

जनपदीय कार्यक्रम

हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण विकास के लिये ग्राम और जनपदों की भाषा और संस्कृति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है । खड़ी बोली इस समय हम सबकी साहित्यिक भाषा और राष्ट्र-भाषा है । हमारी वर्तमान और भावी संस्कृति का प्रकाशन इसी भाषा के द्वारा हो सकता है। विश्व का जितना ज्ञान-विज्ञान है, उसको खड़ी बोली के माध्यम से ही हिन्दी-साहित्य-सेवी अपनी जनता के लिये सुलभ रूप में प्रस्तुत कर सकता है। संसार के अन्य साहित्यों से जो ग्रन्थ हमें अनुवाद-रूप में अपनी भाषा में लाने हैं, उन्हें भी खड़ी बोली के द्वारा ही हम प्राप्त करेंगे । एक ओर साहित्य के विकास और विस्तार का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष है, जिसमें बाहर से ज्ञान-विज्ञान की धाराओं का अपने साहित्य क्षेत्र में हमें अवतार कराना है । दूसरी ओर हमारा अपना समाज या विशाल लोक है । इस लोक का सर्वांगीण अध्ययन हमारे साहित्यिक अभ्युत्थान के लिये उतना ही आवश्यक है।

देश की जनता का नब्बे प्रतिशत भाग ग्राम और जनपदों में बसता है। उनकी संस्कृति देश की प्रधान संस्कृति है । हमारे राष्ट्र की समस्त परम्पराओं को लेकर ग्राम-संस्कृति का निर्माण हुआ है। ग्रामों के समुदाय को ही प्राचीन परिभाषा में जनपद कहा गया है । वह भौमिक इकाई जिसमें बोली और जन-संस्कृति की दृष्टि से जनता में पारस्परिक साम्य अधिक है, जनपद कही गई है । महाभारत के भीष्म पर्व (अध्याय ६), मार्क-

डेय पुराण और अन्य पुराणों में जनपदों की कई सूचियां पाई जाती हैं। उनमें से कितने ही छोटे-छोटे जनपद आधुनिक जिले और कमिश्नरी के समान ही हैं। उनकी संख्या केवल भूगोल की एक सुविधा है। उसमें आपसी विग्रह या विभेद को स्थान नहीं है। जिस प्रकार विविध प्रान्तीय भेद होते हुए भी राष्ट्रीय दृष्टि से हमारा देश और उस देश में बसने वाला जन-समुदाय अखंड है, उसी प्रकार प्रान्तों के अन्तर्गत विविध जनपदों में बसने वाली जनता भी एक ही संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना का अभिन्न अंग है।

देश की यह मौलिक एकता जनपदीय अध्ययन के द्वारा और भी पुष्ट होती है। किस प्रकार एक ही महान् विस्तार के अन्तर्गत हमारा समाज युग-युगों से अपना शान्तिमय जीवन व्यतीत करता रहा है, किस प्रकार उसकी आध्यात्मिक और मानसिक प्रेरणाओंमें सर्वत्र एक जैसी मौलिक पद्धति है, किस प्रकार एक ही संस्कृत भाषा के आधार से दरदिस्तान की दरद और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त या प्राचीन गांधार की पश्तो भाषा से लेकर बंगाली गुजराती और महाराष्ट्री तक अनेक प्रान्तीय भाषाओं का निर्माण हुआ है, और किस प्रकार इन भाषाओं के क्षेत्र में अगणित बोलियां परस्पर एक-दूसरे से और संस्कृत से गहरा सम्बन्ध रखती हैं—यह समस्त विषय अनुसंधान के द्वारा जब हमारे सम्मुख आता है, तब अपनी राष्ट्रीय एकता के प्रति हमारी श्रद्धा परिपक्व हो जाती है। अतएव राष्ट्रव्यापी ऐक्य का उद्घाटन करने के लिये जनपदों में बसने वाली जनता का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी की जो सेवा करना चाहते हैं, उन के कंधों पर जनपदीय अध्ययन का भार अनिवार्यतः आजाता है।

जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता का एक दूसरा प्रधान कारण और है। वही साहित्य लोक में चिरजीवन पा सकता है, जिसकी जड़ें दूर तक पृथ्वी में गई हों। जो साहित्य लोक की भूमि के साथ नहीं जुड़ा, वह मुरझा कर सूख जाता है। भूमि-भूमि पर रहने वाले मनुष्य या जन, और उन मनुष्यों की या जन की संस्कृति—ये ही अध्ययन के

तीन प्रधान विषय होते हैं। एक प्रकार से जितना भी साहित्य का विस्तार है वह इन तीन बड़े विभागों में समा जाता है। जनपदीय कार्यक्रम में ये तीन दृष्टिकोण ही प्रधान हैं। हम सबसे पहले अपनी भूमि का सर्वांगपूर्ण अध्ययन करना चाहते हैं। भूमि का जो स्थूल भौतिक रूप है, उसका पूरा ब्यौरा प्राप्त करना पहली आवश्यकता है। भूमि की मिट्टी, उसकी चट्टानें, भूगर्भ की दृष्टि से भूमि का निर्माण, उसपर बहने वाली बड़ी जलधाराएं, उसको अपनी जगह स्थिर रखने वाले बड़े-बड़े भूधर पहाड़, अनेक प्रकार के वृक्ष-वनस्पति, नाना भांति की औषधियाँ, पशु-पक्षी—इस प्रकार के अनगिन्त विषय हैं, जिनमें हमारे साहित्यिकों को रुचि होनी चाहिए। अर्वाचीन विज्ञान की आंख लेकर पश्चिमी भाषाओं के दक्ष विद्वान् इन शास्त्रों के अध्ययन में कहां-से-कहां निकल गए हैं। हिन्दी में भी वह युग आगया है जब हम अपनी भूमि के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करें और उसने माता की भाँति जितने पदार्थों को पाला-पोसा है, उन सबका कुशल प्रश्न उछाह और उमंग से पूछें। भारतीय पक्षियों को प्रकृति ने जो रूप सौंदर्य दिया है, उनके पंखों पर जो वर्णों की समृद्धि या विविध रंगों की छटा है, उसको प्रकाश में लाने के लिये हमारे मुद्रण के समस्त साधन भी क्या पर्याप्त समझे जाएंगे? हमारे जिन पुष्पों से पर्वतों की द्रोणियां भरी हुई हैं, उनकी प्रशंसा के माहात्म्यज्ञान का भार हिंदी-साहित्य-सेवी के कंधों पर नहीं तो और किस पर होगा? अनेक वीर्यवती औषधियों और महान् हिमालय की वनस्पतियां तथा मैदानों के उधार महावृक्षों का नवीन परिचय साहित्य का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। चट्टानों की परतों को खोल-खोल कर भूमि के साथ अपने परिचय को बढ़ाना, यह भी नवीन दृष्टिकोण का अंग है। इस प्रकार एक बार जो नवीन चक्षुष्मत्ता प्राप्त होगी, उससे साहित्य में नव सृष्टि की बाढ़ आजाएगी।

भूमि के भौतिक रूप से ऊँचे उठ कर उस भूमि पर बसने वाले

जन को हम देखते हैं। जो मानव यहां अनन्त काल से रहते आए हैं, उनकी जातियों का परिचय, उनकी रहन-सहन, धर्म, रीति-रिवाज, नृत्य-गीत, उत्सव और मेलों का बारीकी से अध्ययन होना चाहिए। इस आंख को लेकर जब हम अपने महादेश के सम्बन्ध में विचारेंगे तब हमें कितनी अपरिमित सामग्री से पाला पड़ेगा? उसे साहित्यिक रूप में समेट कर प्रस्तुत करना एक बड़ा कार्य है। जीवन का एक-एक पक्ष कितना विस्तृत है और कितनी रोचक सामग्री से भरा हुआ है! भारतीय नृत्य और गीत की जो पद्धति हिमालय से समुद्र तक फैली है, उसीके विषय में हम छानबीन करने लगे तो साहित्य और भाषा का भंडार कितना अधिक भरा जा सकेगा! उत्सव और जातीय पर्व, मेले और विनोद, ये भी जातीय जीवन के साथ परिचय प्राप्त करने के साधन हैं। इनके विषय में भी हमारा ज्ञान बढ़ना चाहिए और उस ज्ञान का उपयोग आधुनिक जागरण के लिये सुलभ होना चाहिए।

जन की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन तीसरा सबसे प्रधान कार्य है। जनता का इतिहास, उसका दर्शन, साहित्य और भाषा इनका सूक्ष्म अध्ययन हिंदी साहित्य का अभिन्न अंग होना चाहिए। जनपदों में जो बोलियां हैं, उन्होंने निरंतर खड़ी बोली को पोषित किया है। उनके शब्द-भंडार में से अनंत रत्न हिंदी भाषा के कोष को धनी बना सकते हैं। अनेक अद्भुत प्रत्यय और धातुएं प्रत्येक बोली में हैं। हर एक बोली का अपना-अपना धातुपाठ है। उसका संग्रह और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन होना आवश्यक है। प्राचीन कुरु-जनपद के अन्तर्गत मेरठ के आसपास बोली जाने वाली बोली में ही डेढ़ सहस्र धातुएं हैं। उनमें से कितनी ही ऐसी हैं जो फिर से हिंदी भाषा के लिये उपयोगी हो सकती हैं। बहुत-सी धातुओं का सम्बन्ध प्राकृत और अपभ्रंश की धातुओं से पाया जाएगा। कितनी ही धातुएं ऐसी हैं जो जनपद-विशेषों में ही सुरक्षित रह गई हैं। पश्चिमी हिंदी में पवासना (सं० पयस्यति) और पूर्वी में पन्हाना (प्रस्नुते) धातुएं हैं, जब कि दोनों ही संस्कृत के

धातुपाठ से संबंधित हैं। अनेक प्रकार के उच्चारणों के भेद भी स्थान-स्थान पर मिलेंगे। उनकी विशेषताओं की पहचान, उनके स्वरों की परख भाषा-शास्त्र का रोचक अंग है। एक बार जनपदीय कार्यक्रम जब हम आरंभ करेंगे तब भाषा-सम्बन्धी सब प्रकार का अध्ययन हमारे दृष्टिकोण के अन्तर्गत आने लगेगा। प्रत्येक बोली का अपना-अपना स्वतंत्र कोष ही हमको रचना होगा। टर्नर ने जिस प्रकार नेपाली भाषा का महाकोश बना कर हिंदी शब्दों के निर्वचन का मार्ग प्रशस्त किया है, ग्रियर्सन ने काश्मीरी का बड़ा कोष रचकर जो कार्य किया है, उसी प्रकार का कार्य ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी और कौरवी भाषा के लिये हमें अवश्य ही करना चाहिए। तब हम अपनी बोलियों की महत्ता, उनकी गहराई और विचित्रता को जान सकेंगे।

जनपदीय कार्यक्रम इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर उसकी पूर्ति के लिये एक प्रयत्न है। इसका न किसी से विरोध है और न इसमें किसी प्रकार की आशंका है। इसका मुख्य उद्देश्य केवल हिन्दी भाषा के भंडार को भरना है। विविध जनपदों के साहित्यिक स्वतंत्र रूप से अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी शक्ति के अनुसार इस कार्यक्रम में भाग ले सकते हैं।

हिंदी जगत् की संस्थाएं नियमित व्यवस्था के द्वारा भी इसकी पूर्ति का उद्योग कर सकती हैं और जो सामग्री इस प्रकार संचित हो उसका प्रकाशन कर सकती हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी के ग्रामगीत संग्रह का महान् सराहनीय कार्य अथवा श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का लोकगीतों के संग्रह का महान् देशव्यापी कार्य जनपदीय कार्यक्रम के उदाहरण हैं। निःस्वार्थ सेवा-भाव और लगन से इन तपस्वी साहित्यिकों ने भाषा के भंडार को कितना ऊँचा किया है और जनता के अपने ही जीवन के छिपे हुए सौंदर्य के प्रति लोक को किस प्रकार फिर से जगा दिया है, यह केवल अनुभव करने की बात है।

वैसे तो कार्य अनंत है, पर सुविधा के लिये पांच वर्ष की एक सरल

योजना के रूप में उसकी कल्पना यहां प्रस्तुत की जाती है। इसका नाम 'जनपद कल्याणी योजना' है। प्रत्येक व्यक्ति इसमें सुविधा के अनुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन कर सकता है। इसका उद्देश्य तो कार्य की दिशा का निर्देश कर देना है।

जनपद कल्याणी योजना

वर्ष १—साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज और संग्रह; वैज्ञानिक पद्धति से उनका संपादन और प्रकाशन।

वर्ष २—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सांगोपांग अध्ययन अर्थात् उच्चारण या ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातु-पाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र संपादन।

वर्ष ३—स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास, स्थानीय पुरातत्त्व, इतिहास और शिल्प का अध्ययन।

वर्ष ४—पृथ्वी के भौतिक पदार्थों का समग्र परिचय प्राप्त करना अर्थात् वृक्ष, वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु, पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धंधों का अध्ययन।

वर्ष ५—जनपद के निवासी जनों का सम्पूर्ण परिचय अर्थात् मनुष्यों की जातियां, लोक का रहन-सहन, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, नृत्य-गीत, आमोद-प्रमोद, पर्व, उत्सव, मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ—इन सब की बारीक छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थरूप में प्रस्तुत करना।

यह पंचविध योजना वर्षानुक्रम से पूरी की जा सकती है अथवा एक साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकर्त्ताओं की इच्छानुसार प्रारंभ की जा सकती है, किंतु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्य का विवरण प्रकाशित

होता रहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्र के साधनों को एकत्र करके 'मधुकर' 'ब्रजभारती' और 'बांधव' के ढंग का पत्र प्रकाशित करें तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की सूची तैयार होनी चाहिए और कार्य के संपादन के लिये विविध समितियों का संगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, कुछ समितियों के नाम ये हैं:—

१—भाषा-समिति—जनपदीय भाषा का अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोष का निर्माण। धातुपाठ और पारिभाषिक शब्दों का संग्रह इसीके अन्तर्गत होगा।

२—भूगोल या देशदर्शन समिति-भूमि का आंखों देखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना; स्थानों के प्राचीन नामों की पहचान, नदियों के सांगोपांग वर्णन तैयार करना।

३—पशु-पक्षी समिति—अपने प्रदेश के सत्त्वों की पूरी जांच-पड़ताल करना इस समिति का कार्य होना चाहिए। इस विषय में लोगों की जानकारी से लाभ उठाना, नामों की सूची तैयार करना, अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों से नामों का मेल मिलाना आदि विषयों को इसके अन्तर्गत लाना चाहिए।

४—वृक्ष-वनस्पति समिति—पेड़, पौधे, जड़ी-बूटी, फूल-फल-मूल सबका विस्तृत संग्रह तैयार करना।

५—ग्राम-गीत-समिति—लोकगीत, कथा-कहानी आदि के संग्रह का कार्य करना।

६—जन-विज्ञान समिति—विभिन्न जातियों और वर्णों में लोगों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों का अध्ययन।

७—इतिहास-पुरातत्त्व-समिति—प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व की सामग्री की छानबीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन करना एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाई का भी प्रबंध करना।

८—खनिज पदार्थ और कृषि-उद्योग-समिति—जनता के कृषि-विज्ञान, उद्योग-धंधों और खनिज पदार्थों का अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए अपने लोक का रुचि के साथ एक सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजना का उद्देश्य है।

: ८ :

जनपदों की कहानियां

'मधुकर' (टीकमगढ़) और 'व्रजभारती' (मथुरा) के द्वारा इधर कुछ सुन्दर जनपदीय कहानियाँ प्रकाश में आई हैं। जिस प्रकार ग्रामगीतों का संग्रह और प्रकाशन क्रमशः एक वैज्ञानिक पद्धति से चल निकला है वैसे ही लोक-कहानियों का भी संकलन और प्रकाशन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए कि वह भाषा-शास्त्र और कथा-साहित्य दोनों विषयों के विद्वानों के लिये उपयोगी और मान्य हो।

लोकगीतों के उदाहरण से कहानियों के सम्बन्ध में भी कार्य की दिशा का बहुत कुछ परिज्ञान हो सकता है। लोकगीतों के समान ही कहानियों ने भी जनपदों की गोद में सहस्रों वर्षों का वातातपिक जीवन व्यतीत किया है। वे दोनों साथ-साथ फूले-फले हैं। एक-सी खुली हवा और धूप ने दोनों के आनन्ददायी रस को पुष्ट किया है। उनसे रस पानेवाले जनसमूह का प्रतिबिम्ब दोनों में विद्यमान है। कालचक्र का परिवर्तन दोनों पर अपना प्रभाव छोड़ता चलता है। अतएव लोकगीत और कहानी इन दोनों का ही जनपदीय संस्कृति में विशिष्ट स्थान है। पुरवासियों के लिये महाकाव्य और गद्यकथाओं में जो आनन्द भरा हुआ था उसीको जनपदों में लोकगीत और कथा कहानियों ने वितरित किया है।

जिस प्रकार हम प्रत्येक जनपद से संग्रह किए हुए ग्रामगीतों को राजस्थानी लोकगीत, व्रज के ग्रामगीत या अवध के ग्रामगीतों के नाम से

पुकारते हैं, वैसे ही कहानियों का नामकरण भी बिना किसी हिचकिचाहट के जनपद के नाम से ही होना चाहिए। बुन्देलखण्डी कहानियाँ, ब्रज की कहानियाँ, अवध की कहानियाँ ये नाम यथार्थ होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी हैं। प्रायः लोकगीत वर्ण्य वस्तु में सादृश्य रखते हुए भी अलग-अलग जनपदों में भाषा और रस परिपाक की दृष्टि से पृथक् सत्ता रखते हैं, फिर चाहे उनकी कथावस्तु एक ही क्यों न हो। एक ही कहानी ब्रज में मिलती है और बुन्देलखण्ड में भी। इससे उसके साथ ब्रज और बुन्देलखण्ड दोनों में से किसी एक का भी सम्बन्ध शिथिल नहीं माना जा सकता है। वह तो भूमि की उपज है। पृथ्वी में उसकी जड़ें पुष्ट हुई हैं और वहीं से उसने अपना जीवन-रस पाया है। इसलिये प्रत्येक जनपद को अपने-अपने यहाँ की प्रचलित ठेठ कहानियों का संग्रह सत्य भाव से करना चाहिए। इस वैज्ञानिक कार्य में स्पर्धा का लेश भी नहीं होना चाहिए।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कहानी का संग्रह ठेठ जनपद के स्रोत से होना चाहिए, जिसमें नवीनता का संकर न होने पावे। यह सावधानी वैसी ही है, जैसी ग्रामगीतों के संग्रह में बरती जाती है। नई मिलावट से बचने के लिये संग्रहकर्त्ता अपना कार्य ठेठ देहात में जाकर कर सकते हैं और फिर कई कहनेवालों के मुँह से एक ही कहानी को सुनकर उसके पुरानेपन की परख बड़ी आसानी से की जा सकती है। लिखते समय सुनानेवाले का नाम-पता और जहाँ कहानी लिखी गई है, उस स्थान का पूरा पता अवश्य देना चाहिए। बड़े-बड़े जनपदों के भी भाषा की दृष्टि से कई हिस्से हो सकते हैं। इसलिये कहानी में कहाँ की बोली की रंगत है, यह बात भी गाँव का नाम व पता रहने से आसानी से जानी जा सकती है। बोलियों की दृष्टि से सम्पूर्ण जनपद के कितने अवान्तर भाग हैं, इस बात का उचित अनुसन्धान प्रधान कार्य-कर्त्ताओं को करके प्रकाशित करना चाहिए। उदाहरण के लिये डा० ग्रियर्सन ने बिहार में काम करते समय भाषा की दृष्टि से वहाँ के तीन मोटे विभाग निर्धारित

कर लिए थे, जैसे सोन और गंडक के बीच शाहाबाद, सारन और चम्पारन के जिले भोजपुरी का क्षेत्र, गंगा के दक्षिण और सोन के पूर्व में पटना और गया के जिले मागधी का क्षेत्र और गंगा के उत्तर दरभंगा, भागलपुर पूर्णियां के जिले मैथिली का क्षेत्र। इस आधार को मानकर उन्होंने तीन क्षेत्रों से एक ही वस्तु के नामों के अलग-अलग रूपों का संग्रह किया था। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अपने-अपने जनपद का ऐसा स्पष्ट भूविभाग हर एक कार्यकर्त्ता को जान लेना चाहिए। तभी उनका कार्य स्थायी महत्त्व का होगा। कहानी सुनाने वाले का पूरा नाम-पता लिखना अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी दूसरे कार्य-कर्त्ताओं को इससे अपने कार्य में सहायता मिल सकती है।

जनपद की कहानी को जनपद की बोली में लिखना ही वैज्ञानिक पद्धति है। जब हम खड़ी बोली में उसका कायाकल्प कर देते हैं तब मानो हम उस कहानी को उसके नैसर्गिक वातावरण से उखाड़ कर उसे शहर की जलवायु में रोपने का असफल प्रयत्न करते हैं। लोक के गीत जैसे वहीं की भाषा में अपने पूरे रूप में सजते हैं, वैसे ही कहानी भी अपनी जन्मभूमि की बोली में पूरी तरह छजती है। वहीं उसका जीवन पनपता रहा है और आगे भी पनप सकता है। कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि कहानी को जैसा सुनें, ठीक-ठीक वैसे ही उच्चारण में उसको लिपि-बद्ध करें। अपनी ओर से उसमें भाषा का कुछ भी संस्कार न करें। उच्चारण और व्याकरण दोनों की दृष्टि से जनपदीय कहानी में स्थानीय भाषा का पूरा अवतार होना चाहिए।

इस विषय में एक आदर्श कार्य का उल्लेख करना होगा। यह श्री डा. आरल स्टाइन का काश्मीरी कहानियां का संग्रह है। पुस्तक में बारह काश्मीरी कहानियां हैं जो श्री स्टाइन ने हातिम नाम के एक काश्मीरी अनपढ़ ग्रामीण से सन् १८९६ में सुनकर लिखी थीं। हातिम की विलक्षण बुद्धि, स्मरण-शक्ति और उच्चारण की शुद्धता की स्टाइन साहब ने जी खोलकर प्रशंसा की है। इन्हीं कहानियों को उनके सहयोगी

पं० गोविंद कौल जी ने भी लिखा था, जिसका कुछ भाग बाद में खो गया। चौदह वर्ष बाद जब कहानियों के संपादन का समय आया तब इसका पता लगा। हातिम तब भी जीवित था। सन् १९१० की शरद ऋतु में फिर उसी हर मुकुट पर्वत की चोटी पर मोहमन्मर्ग के उसी स्थान में हातिम ने उन कहानियों का पारायण किया और स्टाइन साहब को उस पारायण में एक अक्षर का भी अन्तर नहीं मिला। ऐसी अद्भुत हातिम की याददाश्त थी। आठ वर्ष बाद सन् १९१८ में फिर एक बार उसी पवित्र स्थान में बुड्ढे हातिम के ६२ वें वर्ष में स्टाइन साहब की उससे भेंट हुई। तब उसने इस साहित्यिक यज्ञ में फिर अपनी पवित्र आहुति अर्पित की। रोचक व्यक्तिगत वृत्तांत को अलग रख कर इस संग्रह को वैज्ञानिक लाभ के लिये हम सबको एक बार अवश्य देखना चाहिए। आरम्भ के २६ पृष्ठों में डा० स्टाइन का प्राक्कथन है जिसमें उन्होंने हातिम का और अपने मित्र गोविंद कौल का परिचय दिया है। फिर साठ पृष्ठों में सर जार्ज ग्रियर्सन की भूमिका है जिसमें उन्होंने कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन योरप और एशिया के कहानी-साहित्य से करते हुए समान अभिप्रायों (Motives) का विवेचन किया है। यह अँश बहुत ही काम का है और इससे मालूम होता है कि कहानियों के नाते-रिश्ते दूब के नाल की तरह विशाल भुण्डों में फैले हुए पाए जाते हैं। इससे साधारण लोक-कहानियों का विषय एक शास्त्र के रूप में प्रतिपादित हुआ है। हातिम एक साधारण खेतिहर था; पर कहानी कहना उसका पेशेवर धंधा था। काश्मीर में ऐसे कथक्कड़ों को 'रावी' कहते हैं। हातिम के बारे में ग्रियर्सन साहब का यह वाक्य हिन्दी-जगत् के कार्यकर्त्ताओं को भी देहाती कहानी कहने वालों की मान-प्रतिष्ठा का अच्छा परिचय दे सकता है। वे लिखते हैं:—

"All these materials were a first hand record of a collection of folklore taken straight from the mouth of one to whom they had been

handed down with verbal accuracy from generation to generation of professional Rawis or reciters, and in addition, they found an invaluable example of a little known language." अर्थात् "इन कहानियों में लोक-साहित्य का वह ठेठ रूप विद्यमान था जिसकी पुश्त-दर-पुश्त से पेशेवर 'रावी' लोगों ने बिना एक अक्षर के घटाए-बढ़ाए रक्षा की थी। साथ ही एक जनपद की बोली का भी उनसे परिचय मिलता था।"

इससे यह प्रकट होता है कि सावधान कार्यकर्त्ताओं के किए हुए कहानी-संग्रह न केवल लोक-साहित्य वरन् लोक की भाषा की जानकारी के भी एक अमूल्य साधन बनाए जा सकते हैं। इसी ग्रन्थ में विद्वान् संपादकों ने इसका पर्याप्त परिचय दिया है। भूमिका के बाद बावन पृष्ठों में मूल काश्मीरी भाषा में कहानी और उसके सामने उतने ही पृष्ठों में ग्रियर्सनकृत अंग्रेज़ी अनुवाद है। उसके बाद लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों में पं० गोविन्द कौल लिखित इन्हीं कहानियों का मूल काश्मीरी रूप अंग्रेजी अनुवाद के साथ है। फिर डेढ़ सौ पृष्ठों में कहानियों की भाषा का शब्दकोष है, जिसमें संपादक ने अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता का पूर्णरूप से परिचय दिया है। अन्त के सौ पृष्ठों में वर्ण-क्रम से शब्द-सूची है। इस प्रकार केवल दस-बारह ठेठ जनपदीय कहानियों को आधार बनाकर परिश्रमी संपादकों ने एक अत्यन्त प्रशंसनीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया है और इस दिशा में हमारे कार्यकर्त्ताओं का मार्गप्रदर्शन किया है। यदि अपने-अपने जनपद की बोली के साथ हमारा प्रेम भी वैसा ही उत्कट हो, जैसा ग्रियर्सन साहब ने काश्मीर के साथ व्यक्त किया है तो उस बोली के भाग्य ही जग जावें। उन्होंने आगे चलकर अपने अध्ययन की पराकाष्ठा करते हुए कश्मीरी बोली का बृहत् कोष चार बड़ी जिल्दों में संपादित किया जो कलकत्ते की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हुआ है।

लोक में प्रचलित कहानियों का वैज्ञानिक महत्त्व बहुत अधिक है। हमको शनैः-शनैः अनुभव और अध्ययन के द्वारा उसका परिचय बढ़ाना चाहिए। अभी तक जो कहानियां प्रकाशित हुई हैं उसमें 'व्रज भारती' (वर्ष २ अंक १ कार्त्तिक १९३९) में प्रकाशित 'जैसी करनी वैसी भरनी' शीर्षक व्रज की एक ग्रामीण कहानी बहुत ही सुन्दर और महत्त्व की मालूम हुई। कहानी व्रज-भाषा की बोली में लिखी गई है। ज्ञात होता है कि लेखिका श्रीमती आदर्शकुमारी यशपाल ने जैसा देहात में सुना, वैसा ही कहानी को लिपिबद्ध कर दिया है; परन्तु हमारे आश्चर्य की परम सीमा उस समय हुई जब हमने देखा कि नेक और बद नामक दो यारों की इस सीधी-सादी छोटी-सी कहानी का मौलिक कथावस्तु वही है जो जैन कहानी 'भविसयत्तकहा' अर्थात् 'भविष्यदत्तकथा' का है जिसे 'पंचमी कहा' भी कहते हैं। इसके लेखक अपभ्रंश भाषा के कवि धनपाल दसवीं शताब्दी के हैं। यह कहानी सन् १९१९ में डा० जैकोबी ने रोमनलिपि में प्रकाशित की थी, पर पीछे सन् १९२३ में बड़ौदा से देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित हुई। कहानी का पहला भाग इस प्रकार है—"एक सेठ ने दो विवाह किए। उसकी पहली और दूसरी पत्नी से एक-एक पुत्र हुआ। बड़ा भाई साधु और छोटा दुष्ट स्वभाव का था। वे दोनों व्यापार के लिये चले। चलते-चलते एक द्वीप में पहुंचे। वहां छोटा भाई बड़े को छोड़कर चल दिया। बड़े को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ एक सुन्दर नगर मिला और एक सुन्दर राजकुमारी मिली। उन्होंने परस्पर विवाह कर लिया। कुछ समय बाद बहुत साधन प्राप्त करके वे दोनों किनारे पर आए कि कोई आता-जाता जहाज मिल जाय। संयोग से छोटा भाई अपनी यात्रा में असफल होकर वहाँ आ निकला और उसने उन्हें जहाज पर आने का निमन्त्रण दिया। राजकुमारी जहाज पर चली गई, पर उसके पति के आने से पूर्व ही छोटे भाई ने जहाज रवाना कर दिया और घर लौटकर राजकुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव किया। तब तक बड़ा भाई भी वापस आया और

अपने छोटे भाई की कुटिलता की राजा से शिकायत की। राजा ने उस दुष्ट को उसके किए का दण्ड दिया और बड़े भाई को प्रसन्न होकर बहुत कुछ पुरस्कार दिया और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह करने का वचन दिया।" इस मूल कथा को साहित्यिक ढंग से सम्भाल कर धनपाल ने अपना ग्रन्थ लिखा है। जान पड़ता है यह मूल कथा किसी समय लोक में खूब प्रचलित थी। उसीका एक रूप व्रज में नेक-बद की कहानी के रूप में रह गया है। सम्भव है कि अन्य जनपदों में भी इसके कथानक प्राप्त हों।

: ६ :

लोकवार्त्ता शास्त्र

लोकवार्त्ता एक जीवित शास्त्र है। सहानुभूति के साथ उसका अध्ययन अपनी संस्कृति के भूले हुए पथों का उद्‌घाटन कर सकता है। लोक का जितना जीवन है उतना ही लोकवार्त्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोकवार्त्ता सम्बन्ध भी इन्हींके साथ है।

लोकवार्त्ता की सामग्री का संचय करने के लिये प्रत्येक गांव को एक खुली हुई पुस्तक समझना चाहिए। भूमि के साथ सम्बन्धित ग्राम या जनपद का प्रत्येक निवासी उस महान् पुस्तक का एक बहुमूल्य पृष्ठ है। हम जब चाहें सुविधानुसार और युक्तिपूर्वक अमृत के समान उपयोगी सामग्री दुह सकते हैं। लोक की पुस्तक के अमिट अंकों को बाँचने और विधिपूर्वक अर्थाने की जिनके पास शक्ति है उन्हें इस ग्रन्थ से किसी काल और किसी अवस्था में भी निराशा न होगी।

जिस प्रकार पैरों के नीचे की पृथिवी का उत्पादन अनन्त है उसी प्रकार हमारे चारों ओर विस्तृत लोक का भी ज्ञान अपरिमित है। ज्ञानद जन के रूप में लोक के किसी एक सदस्य का जब हम दर्शन करते हैं तो हमें समझना चाहिए कि जीवन की अनेक बातें ऐसी हैं जिनमें हम उसे अपना गुरु बना सकते हैं। देहरादून के सुदूर अभ्यन्तर में स्थित लाखामंडल गांव के परमा बढ़ई से जो सामग्री हमें प्राप्त हुई वह किसी भी प्रकाशित पुस्तक

से न मिल सकती थी। जौंसार बावर के उस छोटे गाँव के शिव मंदिर के आँगन में खड़े होकर हमारे मित्र पं० माधवस्वरूप जी वत्स (सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ आर्किओलॉजी, आगरा) जिस समय भोलीभाली जौंसारी स्त्रियों के मुख से दूबड़ी आठों (भाद्रपद शुक्ल अष्टमी) के त्योहार और उस अवसर पर छामड़ा पेड़ की डालों से बनाए जाने वाले आदमकद दानव का, जिसे वहाँ 'छामड़िया दानो' कहते हैं, हाल सुनने लगे तो उन्हें आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा कि इस दूबड़ी की पूजा में मातृत्व-शक्ति की पूजा की वही परंपरा पाई जाती है जो उन्हें हड़प्पा की मूर्त्तियों में मिली थी। इसी जौंसार प्रदेश की चिया-त्रिया-प्रथा (त्रिया=जेठेभाई के साथ स्त्री का विवाह; चिया=अन्य छोटे भाइयों का उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार) के विषय में और अधिक जानने की किसे इच्छा या उत्सुकता न होगी? ये और इन जैसे अनेक विषय लोकवार्त्ता के अन्तर्गत आते हैं, जिनका वैज्ञानिक पद्धति से संकलन और अध्ययन अपेक्षित है।

मानवी प्रथाएँ और मानवी संस्कार स्थान और काल भेद से अद्भुत और विचित्र होते हैं। उनके मूल में जो मानवी भावना अंतर्निहित रहती है उसका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन लोकवार्त्ता शास्त्र का सच्चा प्राण है, जो इस शास्त्र को महिमा और पवित्रता प्रदान करता है और उसे निष्प्राण होने से बचाता है। हमारा देश सब दृष्टियों से विशाल है। भौमिक विस्तार और जन-विस्तार का इसमें कोई अंत नहीं। आर्यों की उदात्त संस्कृति से लेकर कोल, भील, संथाल आदिक वन्य जातियों का यहाँ अपरिमित क्षेत्र है। यदि हमारे हृदय में सहानुभूति है और नेत्रों में प्रेम का दीपक है तो हम मानव की अग्रिम और आदिम इन दोनों अवस्थाओं से बहुत कुछ कल्याणकर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यही लोकवार्त्ता शास्त्र की उपयोगिता है।

: १० :

राष्ट्रीय कल्पवृक्ष

कल्पवृक्ष भारतीय-गाथा-शास्त्र की सुन्दर कल्पना है। उसके नीचे खड़े होकर हम जो कुछ चाहते हैं पा लेते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे कल्पना का साम्राज्य रहता है। मनुष्य मननशील प्राणी है। सोचना-विचारना ही मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। उसने जो कुछ सोचा है, आज उसका जीवन उसीका फल है। यदि मनुष्य का सोचना या चिन्तन शक्तिशाली है तो उसका जीवन भी सबल और सक्रिय होगा। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसका मन है वही उसके विचारों का, उसके संकल्पों का उत्पत्ति-स्थान है। मन ही विचारों की जन्म-भूमि है। मन ही हमारा कल्पवृक्ष है। मन के द्वारा ही हमारी कल्पनाओं का विकास होता है। सुन्दर, श्रेष्ठ, वीर्य-सम्पन्न कल्पना का नाम संकल्प है। दुर्बल और बिना रीढ़ के विचारों का नाम विकल्प है।

राष्ट्र का मन ही राष्ट्रीय कल्पवृक्ष है। इस कल्पवृक्ष के द्वारा ही राष्ट्र के भूत, वर्तमान और भविष्य में एकता का सूत्र पिरोया रहता है। यह कल्प-वृक्ष अमर है। इसीलिये इसे देवों का वृक्ष कहते हैं। अमरत्व ही देवत्व है। राष्ट्र का मन ही उसका अमर स्वरूप है। राष्ट्र का भौतिक रूप इस अमर कल्पवृक्ष के नीचे फूलता-फलता हुआ अपनी एकता बनाये रखता है। गंगा की अन्तर्वेदी में खड़े होकर जिस महामना ने सबसे पहले राष्ट्र-निर्माण के बीज बोए, उसने

और उसके वंशजों में एकता कराने वाला यही कल्पवृक्ष है। हम दोनों एक ही मनोमय राज्य की प्रजा हैं।

राष्ट्रीय मानस का कल्प-वृक्ष न केवल अमर है, बल्कि अनन्त भी है। उसकी इयत्ता की कोई सीमा नहीं है। कवि ने ठीक ही कहा है:—

मनोरथानामगतिर्न विद्यते।

(कुमार संभव)

अर्थात्—"मन का रथ कहाँ नहीं जा सकता? उसकी गति सब ओर है। उसका क्षेत्र अनन्त है।" भारत राष्ट्र का कल्प-वृक्ष कितना विस्तृत और गम्भीर है, यह अनुभव करने की बात है। वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, चाणक्य, एक-एक नाम राष्ट्रीय शक्ति का प्रतीक है। इन प्रज्ञावान् ऋषियों ने अपने चिन्तन से राष्ट्रीय कल्प-वृक्ष का पोषण और संवर्द्धन किया। उनके विचारों के अमृत जल से राष्ट्र का मन नया ओज और नया बल पाकर खूब फूला-फला। उसकी जड़ें पाताल तक गहरी चली गईं। राष्ट्र के चिन्तन में सहस्रों नई शाखा प्रशाखाएं फूटीं। विचार और कर्म के अनेक झरनों ने अपने रस से राष्ट्रीय कल्प-वृक्ष को शताब्दि और सहस्राब्दियों तक निरन्तर सींचा। जिस प्रकार गंगा और सिन्धु की उपत्यकाएं बड़ और पीपल जैसे अनगिन्त महावृक्षों से भरी हुई हैं, जिनकी जड़ें गहरी हैं और जिनकी जटाएँ फिर पृथ्वी की ओर अपने पनपने के लिये नया आधार बना लेती हैं, उसी प्रकार हमारे राष्ट्र का यह पुरातन कल्प-वृक्ष पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र फैला हुआ है। इसने अपनी छत्र-छाया में समस्त देश को अपना लिया है। इसके रस से पुष्ट होने वाले अगणित अंकुर हमारी भूमि के विशाल इतिहास में सदा पनपते रहे हैं। आज भी हम इस महावृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं। हमारा जातीय-जीवन इसकी छाया में विकसित हो रहा है!

राष्ट्र के जिस व्यक्ति का सम्बन्ध इस कल्प-वृक्ष से टूट जाता है, उसके लिये शोक है। राष्ट्र के विचार-क्षेत्र का जो अंग अपने कल्प-

वृक्ष से रस नहीं पाता वह मुरझा जाता है। राष्ट्रीय कल्प-वृक्ष की जड़ें जब कमजोर पड़ जाती हैं तब राष्ट्र मरने लगता है। राष्ट्र की भाषा, राष्ट्र का साहित्य, राष्ट्र की प्रजा, यहाँ तक कि राष्ट्र की पशु-पक्षियों की नस्लों में भी जीवन का प्रवाह ढीला पड़ जाता है।

राष्ट्रीय कल्प-वृक्ष जब इस प्रकार जीवन के लिये व्याकुल हो तब महापुरुष वसन्त की तरह आकर उसे नया जीवन देता है। यही सब देशों और सब युगों का नियम है। फागुन के महीने में शिशिर का मंत्र पाकर जब तेज फगुनहटा बहता है तब चारों ओर पतझड़ दिखाई देता है। पर इसके बाद ही वसन्त एक मंगल-संदेश लेकर आता है। वसन्त का आगमन जीवन का प्रवाह है। वृक्ष-वनस्पति तो पहले से ही थे। वसन्त आकर पृथ्वी के साथ उनके सम्बन्ध को हरा-भरा बना देता है। वन-प्रकृति अपने पोषण के रसों को फिर उसी पृथ्वी में से ग्रहण करने लगती है। महापुरुष भी राष्ट्रीय कल्प-वृक्ष के लिये इसी प्रकार का कार्य करता है। उसके मंत्र से राष्ट्र की कल्पना-शक्ति जाग उठती है, राष्ट्र का चिन्तन सशक्त बनने लगता है। सदियों से सोते हुए भाव उठकर खड़े हो जाते हैं। महापुरुष अपनी शक्ति से इस वृक्ष को झकझोरता है जिससे उसके रोम-प्रतिरोम में चेतना का अनुभव होता है, उसमें सर्वत्र जीवन-रस की माँग होने लगती है और उस रस के प्रवाह के जो मुरझाए हुए स्रोत हैं, वे फिर से हरे-भरे हो जाते हैं और इस सबका फल क्या होता है?

राष्ट्र का जन्म

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्। (अथर्व)

उससे राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र के जन्म से बल प्राप्त होता है। शरीर, मन, आत्मा, सर्वत्र नये बल का अनुभव होता है; नये आत्म-विश्वास का उदय होता है। बल के संचार से ओज उत्पन्न होता है। औरों को अपने समुदित बल का अनुभव हो सके, यही ओज है।

राष्ट्र क्या है? केवल भूमि राष्ट्र नहीं। मिट्टी का ढेर तो सदा बना ही है। भूमि और उसपर बसने वाले जन के सहयोग से राष्ट्र बनता है। राष्ट्र के लिये इस भावना का जीतेजागते रूप में रहना आवश्यक है:—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

(अथर्व० पृथिवी सूक्त)

भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। जिनके हृदय में माता की श्रद्धा नहीं वे राष्ट्र के अंग नहीं बन सकते। 'पृथ्वी सूक्त' में कहा है कि यह भूमि पहले सागर के नीचे छिपी हुई थी। यह उनके लिये प्रकट हुई जो मातृमान् हैं, जिनको माता और पुत्र के सम्बन्ध का ज्ञान है। यदि वह सम्बन्ध हृदय में नहीं है तो पृथिवी केवल मिट्टी का ढेला है। अतएव राष्ट्र की कल्पना पृथिवी और पृथिवी-पुत्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है। मातृभूमि और उसके पुत्र इन दोनों का समवाय राष्ट्र है। इनका जो मानसिक सम्बन्ध है उसीसे राष्ट्र का बहुमुखी विकास होता है। जिस समय जीवन में कर्म के उत्कर्षशाली स्वर गूँजने लगते हैं, उस समय सब प्रजाएँ उसका अनुमोदन करती हुई पुकार उठती हैं:—

"एवा ह्येव। एवा ह्येव। एवा ह्यग्ने।
एवा हि इन्द्र। एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः।

ऐसा ही होगा, अवश्य ऐसा ही होगा! हे अग्नि, ऐसा ही होगा। हे इन्द्र, ऐसा ही होगा। हे पूषा, ऐसा ही होगा और हे अन्य सब देवो, ऐसा ही होगा। हमारे कर्म की शक्ति से राष्ट्र के जीवन की परिधि उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होगी और हमारे दृढ़ संकल्पों से सिंचित यह महावृक्ष युग-युगान्त तक जीवन-लाभ करता रहेगा।

: ११ :

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्त काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय-भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिये पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपान्त जानकारी प्राप्त करना उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्त्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथ्वी से जिस वस्तु का सम्बन्ध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसकी कुशल-प्रश्न पूछने के लिये हमें कमर कसनी चाहिए। पृथ्वी का सांगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिये बहुत ही आनन्दप्रद कर्त्तव्य माना जाता है। गांवों और नगरों में सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिये, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रति वर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं,

हमारे अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिएं। उन मेघजलों से परिवर्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अन्धकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियां भरी हैं जिनके कारण वह वसुन्धरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं के पृथ्वी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन-रात बहने वाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथ्वी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिये इन सब की जांच-पड़ताल अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी की गोद में जन्म लेने वाले खड़ पत्थर कुशल शिल्पियों से संवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं। नाना भांति के अनगढ़ नग विंध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उन चीलबटों को जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अन-मोल हो जाते हैं। देश के नर-नारियों के रूप-मण्डन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है; अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए गम्भीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियां हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिएं। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जबतक नहीं फूटतीं तबतक हम सोए हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक

परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूप-मण्डन प्राप्त किया जा सकता है।

जन—

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग है। पृथ्वी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असम्भव है। पृथ्वी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप सम्पादित होता है। जन के कारण ही पृथ्वी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथ्वी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथ्वी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूं।'

जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुञ्जी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमण्डल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं। जहां यह भाव नहीं है वहां जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहिचानता है उसी क्षण आनन्द और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृभूमि के लिये इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै
माता पृथ्वी को प्रणाम है। माता पृथिवी को प्रणाम है।

यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति

मनुष्यों के कर्त्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथ्वी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवा-भाव पुत्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिये पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर बसने वाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथ्वी पर निवास करने वाले जनों का विस्तार अनंत है—नगर और जनपद, पुर और गांव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएं बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथ्वी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिये समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र जागरण और प्रगति की एक जैसी उदार भावना से सञ्चालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनन्त होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जबतक सूर्य की रश्मियां नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती हैं तबतक राष्ट्रीय जन का जीवन

भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिये आज भी अजर-अमर हैं। जन का संततवाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबन्धमात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि सम्भव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिए जाएं तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अन्तर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर बसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् संस्कृतियां राष्ट्र में विकसित होती हैं, परन्तु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ

मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जलों के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियां राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्व-व्यापी आनन्द भाव है वह इन विविध रूपों से साकार होता है। यद्यपि बाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखाई पड़ते हैं किन्तु आंतरिक आनन्द की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद-पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनन्दित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिये स्वास्थ्यकर है।

गांवों और जंगलों में स्वच्छन्द जन्म लेने वाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं में संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है, जहाँ से आनन्द की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचय-काल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म-विज्ञान, साहित्य-कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहां अतीत वर्तमान के लिये भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

: १२ :

हिन्दी साहित्य का 'समग्र' रूप

साहित्यिक क्षेत्र में कार्य-विभाजन की योजना सोच-विचार कर निश्चित करनी चाहिए। बीस करोड़ भाषाभाषियों के साहित्य का क्षेत्र कुछ संकुचित तो है नहीं, जो हम एक-दूसरे के कार्य के प्रति सशंक हों और विवाद में पड़ें। जैसे मातृभूमि के लिये अथर्ववेद के ऋषि ने पृथ्वी सूक्त में लिखा है कि यह पृथ्वी नाना धर्मों के अनुयायी, अनेक भाषाओं के बोलने वाले, बहुत-से मनुष्यों को धारण करती है—

'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्',

वैसे ही हमारे साहित्यिक जगत् में भी 'विविधवाक् वाले' बहुत-से जनों के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। सारांश यह है कि इस पवित्र क्षेत्र में स्पर्धा के स्थान पर कार्य-विभाजनजनित सहकारिता और सहानुभूति का राज्य होना चाहिए।

जनपद कल्याणीय कार्य को हम ऊँचे और पवित्र धरातल से करना चाहते हैं। हमारे इतिहास की जो धारा है उसका एक स्वाभाविक परिणाम जनपदों के साथ सुपरिचित होना है। आने वाले युग की यह विशेषता होगी। लोकोद्धार के बहुमुखी कार्यों की हम इसे दार्शनिक विचार-भूमि कह सकते हैं।

जनपदों की संस्कृति और साहित्य के कार्य को हम राष्ट्र के 'समग्र' या गीता के 'कृत्स्न' रूप को पहचानने का कार्य कहते हैं। जनपद राष्ट्र का एक अंग है। उसके साथ सूक्ष्म परिचय हुए बिना हमारी राष्ट्रीयता की जड़ें आकाश बेल की तरह हवा में तैरती रहेंगी। जनपदों की सांस्कृतिक-साहित्यिक भूमि सारे राष्ट्रीय साहित्य के लिये परम दुधार धेनु सिद्ध

होगी। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब राष्ट्र जनपदों के समूह से बना है तब जनपद की अवहेलना करके राष्ट्रीय कोष में भरने के लिये हम उपहार-सामग्री लाएंगे कहाँ से ?

कृष्ण ने 'कृत्स्न' ज्ञान की जो परिभाषा बांधी है वह अक्षरशः हमारे कार्य पर लागू है। समग्र राष्ट्र-सम्बन्धी साहित्य व भाषा और संस्कृति की उन्नति,उसके स्वरूपकी विकसित अवाप्ति, यह ज्ञान है। एकता की ओर प्रगति ज्ञान है और विभिन्नता को समझने का प्रयत्न विज्ञान है। 'एकोहं बहु स्याम्' यह बाह्यमुखी प्रवृत्ति विज्ञान से सम्बन्धित है। विविधता का निराकरण करते हुए 'एकमेवाद्वितीयम्' के द्वारा मौलिक अद्वितीय तत्त्व की खोज, यह 'ज्ञान' पक्ष है। बहुतों में से एक और एक में बहुत को पहचान सकना ही पूरा पक्का अनुभव कहा जाता है। जिस प्रकार यह महा सत्य मानवी जीवन में सच्चा और खरा है उसी प्रकार साहित्य जगत् में भी इसकी सत्यता को अनुभव में लाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और खड़ी बोली का पक्ष

इस पक्ष में साहित्य का समग्र राष्ट्र के साथ सम्बन्ध है। उस भगीरथ कार्य का स्वरूप निम्नलिखित समझना चाहिए—

१—समस्त संस्कृत साहित्य की पूरी छानबीन करके हिन्दी की खड़ी बोली में उसका अनुवाद और प्रकाशन।

२—निखिल पाली साहित्य, अर्द्ध मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत जैन साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, संस्कृत, बौद्ध साहित्य का सं० १ की तरह हिंदी में समीक्षा-सम्पन्न अनुवाद और प्रकाशन।

३—तिब्बती कंजुर, तंजुर और चीनी त्रिपिटक जिसमें लगभग ५००० ग्रन्थ भारतीय धर्म और संस्कृति सम्बन्धी हैं और मूल सर्वास्तिवादी, महासंघिक एवं सम्मितीय सम्प्रदायों के ग्रन्थ पृथक्-पृथक् सुरक्षित हैं।

४—प्राचीन अवस्ता और पहलवी के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि इन ग्रन्थों में प्राचीन भारतवर्ष के भूगोल, इतिहास और जीवन की अपरिचित सामग्री विद्यमान है।

५—अरबी यात्रियों के भारत-सम्बन्धी यात्रा-ग्रन्थ फारसी में लिखे हुए सुलतानी और मुगलकालीन इतिहास और भूगोल ग्रन्थों का हिन्दी खड़ी बोली में अनुवाद और प्रकाशन। इब्न हौकल, अब्दुल फिदा, सुलेमान आदि यात्रियों ने भारतवर्ष का जैसा वर्णन किया है उसके साथ परिचित होने का जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है उसके उपयोग के लिये हम खड़ी बोली की ही शरण में जाएंगे। अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं में इनके संस्करण होचुके हैं, हिन्दी में भी निकलना आवश्यक है।

६—पुर्तगाली, ओलंदाजी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी यात्रियों के सैकड़ों यात्रा-विवरण १६ से १८ वीं सदी तक जिन्हें हक्लुयत सोसायटी ने छापा है और जिनमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के एक बहुत ही गाढ़े समय का चित्रण है, खड़ी बोली के ही द्वारा हिंदी जनता को मिलने चाहिएँ।

७—विश्व में जो इस समय विज्ञान का महिमाशाली साहित्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है उसको पूरी तरह व्यक्त करने और अपने राष्ट्रकोष में समेटने का माध्यम खड़ी बोली ही हो सकती है। इस कार्य में एक सहस्र कार्यकर्त्ता भी हों तो थोड़े हैं। ग्रीक और लेटिन की सहायता से जैसे योरप ने अपने पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल कर लिया है उसी प्रकार हम भी संस्कृत की शक्ति से, जो ग्रीक और लेटिन से धातु-प्रत्ययों में कहीं अधिक समृद्ध है, हल कर सकते हैं। धातुओं से अनेक कृदन्त बनाने की जैसी सामर्थ्य संस्कृत में है वैसी किसी दूसरी भारतीय या योरोपीय वर्ग की भाषा में नहीं है। बुद्धिपूर्वक उसका उपयोग करने से पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों के निर्माण की समस्या बहुत आसान हो सकती है।

८—हिंदी में जो नवीन साहित्य-सृष्टि होगी उसका माध्यम भी खड़ी बोली ही होगी। प्रान्तीय भाषाओं के बढ़ते हुए साहित्य का हिंदी भाषा में अनुवाद करने का कार्य भी खड़ी बोली के साहित्यसेवियों को करना होगा। संसार की अन्य भाषाओं में जो उच्चकोटि का साहित्य या काव्य अब तक बने हैं या आगे बनेंगे उन्हें भी हिन्दी भाषा में लाने का कार्य शेष है।

ये सब कार्य खड़ी बोली के माध्यम से पूरे करने होंगे। इन्हें हम उस कोटि में रखते हैं जो एक केन्द्र से किये जा सकते हैं। इन कार्यों के करने में न बहुत-से केन्द्रों में बहकने की आवश्यकता है और न जनपदों की पगडंडियों में रास्ता भूल जाने की। यहां हमारे मित्र सब प्रकार की आशंकाओं से एकदम सुरक्षित रहकर हिंदी के गौरव की वृद्धि कर सकते हैं।

जनपदीय कार्यरूपी दूसरा पक्ष

ऊपर निर्दिष्ट केन्द्रीय एकता के अतिरिक्त साहित्य-निर्माण का दूसरा पक्ष भी है जिसमें बहुत-से केन्द्रों में फैल कर हमें साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य को उठाना है। इनका क्षेत्र जनपदों की छोटीसी प्रशांत भूमियां हैं। यहां चारों ओर विभिन्नता का साम्राज्य है। आकाश के तरैयों की छोटी-सी झिलमिल की तरह साहित्यिक यहां चमक रहे हैं। वर्षा की बूँदों की तरह लोकगीत, कहानी, मुहावरे, शब्दों की प्रतिक्षण यहां वृष्टि हो रही है। वृक्ष और वनस्पति अपना संदेश सुनाने को आकुल हैं। गाती हुई कोयल का स्वर साहित्यिक को अपनी ओर खींच रहा है। एक छोटा-सा हरा तृण शंखपुष्पी के जैसे श्वेत फूल की पगड़ी बाँधे अपनी चौपाल पर चौधरी बना बैठा है। उसकी बात सुनने का निमंत्रण हिन्दी साहित्य के कानों में अभी हाल में आकर पहुँचा है। उसका नाम, धाम, ग्राम, पता पूछने के लिये यदि आपके साहित्यिक जाना चाहते हैं तो कृपया उनको रोकिए मत, आशीर्वाद दीजिए। इसमें

आप दोनों का सौभाग्य छिपा हुआ है। जनपदों में जीवन की धारा अबतक जो बहती आई है उसके यशोगान को पुण्यश्लोका सरस्वती जब हमारे साहित्यिकों के कंठ से गूँजेगी तब उसके घोष से हमारे कान युगों की बधिरता को परित्याग करके जी उठेंगे। जनपदों में एक बार मातृ-भूमि का दर्शन अपने साहित्यिकों को करने तो दीजिए, आप सूर्य से प्रार्थना करेंगे कि पूरे सौ वर्ष तक हमारी आंखों के साथ उसका सख्य-भाव बना रहे जिससे मातृभूमि के पूरे सौन्दर्य और 'समग्र' स्वरूप को देखने की हमारी लालसा आयुपर्यन्त पूरी होती रहे।

: १३ :

साहित्य-सदन की यात्रा

चिरगाँव का साहित्य-सदन मेरे जैसे नई पीढ़ी के हिन्दी पाठकों के लिये एक तीर्थ है। स्कूल के शिक्षाभ्यास के समय ही जब काव्य से आनन्द ग्रहण करने का नया उन्मेष हो रहा था, मेरे साहित्यिक मानस को श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के जयद्रथवध और भारत-भारती से रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ था। कालान्तर में परिस्थिति ने उस आकर्षण को एक गाढ़ा रूप दे डाला और मुझे गुप्तजी को अपने अति-सन्निकट बन्धु और घनिष्ठ मित्र के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साहित्य-सदन देखने की इच्छा बनी हुई थी। अक्तूबर १९४३ के अन्त में गुप्त-जी के भतीजे श्री वैदेहीशरणजी के आमन्त्रण पर कुछ शिलालेख देखने के लिये चिरगाँव की यात्रा का सुयोग मिला।

३० अक्तूबर कार्तिक शुक्ल द्वितीया को मैंने चिरगाँव के लिये प्रस्थान किया। साहित्य-सदन की यात्रा के उद्दिष्ट पथ पर जाते हुए न जाने किस अदृष्ट संयोग से लखनऊ स्टेशन पर ही मुझे रस के चमत्कार का एक साक्षात् अनुभव प्राप्त हुआ। एक सम्भ्रान्त युवती अपने पति को जो सम्भवतः किसी विकट यात्रा पर जा रहा था, विदा देने आई थी। विदा करके आँसुओं से छलकते हुए नेत्रों को जब वह पोंछने लगी तब उस दृश्य को चलती हुई गाड़ी में से देखकर मेरा हृदय भी द्रवित हो गया, किसी रस के स्पर्श में आकर नेत्र सजल हो गए। किस कारण से ऐसा हुआ? इस प्रश्न पर कुछ देर के लिये ध्यान ठहर गया। करुण रस का उद्रेक उस स्त्री में हुआ था। उसको देखकर दर्शक का सहृदय मन रस-सिन्धु के साथ जुड़ गया। सहृदय मन में ही रस उमड़ता है। सहृदयता जितनी अधिक मात्रा में होगी, रस का अनुभव भी उतना ही तीव्र

होगा। सहृदयता ही रस ग्रहण के लिये व्यक्ति की सच्ची योग्यता है।

किसी व्यक्ति-विशेष में रस का उद्रेक हुआ। सहृदय ने उसको देखा, उसका अनुभव किया। फलस्वरूप उसका परिमित मन जो स्थूल भावों में निबद्ध था, उन स्थूल भावों से छूट कर सर्व-व्यापक रस के साथ जुड़ गया। रस सब काल में सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि में सब जगह प्राप्य वस्तु यदि रस है और आनन्दानुभूति उसका लक्षण है तो रस और ब्रह्म एक ही होंगे। इसीलिये 'रसो वै सः' की परिभाषा बनी होगी। रस एक प्रकार से अनिर्वचनीय वस्तु है। वह स्वसंवेद्य है, शब्दों में रस अपरिभाष्य है। सर्वत्र भरा हुआ रस-समुद्र एक है, पर उसकी तरंगों में भेद है, उसके रूप या स्वाद भिन्न-भिन्न हैं। ये ही भेद काव्यों के आठ या नौ रस हैं। एक रसाप्लुत रस-सिंधु के पारस्परिक भेदों की आलंकारिकों ने बारीक छान-बीन की है।

काव्य में रस के आलम्बन जो यक्ष-यक्षिणी हैं वे भूतकाल की वस्तु बन जाते हैं अर्थात् उनका भौतिक रूप काल से परिमित होता है। परन्तु उनकी कथा के काव्यमय वर्णन से रसिक सहृदय के मन में भी रस का सोता फूट पड़ता है। रस के पारखी कवि और सहृदय आलोचक होते हैं। कवि रस-सिंधु के साथ तन्मय होकर उसे दूसरों के लिये सुलभ करता है। अमूर्त रस को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना कवि का कौशल है। रस की क्रिया प्रतिक्रिया को कवि की सूक्ष्म दृष्टि ताड़ लेती है। वह द्रावक और मार्मिक स्थलों को सामान्य वर्णनों से अलग छान लेता है और उनके वर्णन में रस-पोष के लिये अपनी काव्य-शक्ति का उपयोग करता है। रस का जन्म, उद्बोधन, परिपाक, पोष और उससे प्राप्त होने वाली फल-निष्पत्ति की पहचान और परख ही सच्ची काव्य-आलोचना कही जा सकती है।

इस प्रकार साहित्य-सदन की यात्रा के लिये प्रस्थान करते ही रसा-त्मक अनुभव की एक प्रतीति सामने आ गई। इन्हीं विचारों से तरंगित मन को लिये हुए सायंकाल के समय साहित्य-सदन के उदार प्रांगण में पहुँच गया। गुप्तजी की बैठक का विस्तृत आँगन दर्शक के मन को सबसे

पहले प्रभावित करता है। प्रातःकाल की शीतकालीन धूप से भरा हुआ यह प्रांगण देवों के लिये भी स्पृहा की वस्तु है। किसी सारस्वत लोक से कितने रमणीय विचारों के विमान इस पुण्य-भूमि में उतरे हैं। यहाँ ही गुप्तजी और उनके छोटे भाई सियारामशरणजी ने अनवरत काव्य-साधना के द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ किया है। पूर्वाभिमुखी आस्थान मण्डप में खिलखिलाते हुए गुप्त-बन्धुओं की कल्पना दर्शक की प्रिय वस्तु है। गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी मानवता है। वे अन्तर-बाहर से मानवी प्रतिष्ठा और मानवी सरलता के पुजारी हैं। स्वयं उनका स्वभाव नितान्त सरल है, पर दूसरों को प्रतिष्ठा देने में वे सबसे आगे रहेंगे। वे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि हैं और क्षण भर में बात की गूढ़ता को ताड़ जाते हैं। उनकी स्मृति-शक्ति भी अच्छी है। इतनी अधिक काव्य-साधना करने पर भी जान पड़ता है कि उनके पास समय का अटूट भण्डार है। साहित्य-गोष्ठी और साहित्यिकों के साथ ठहाके की हँसी से गुप्तजी के थके हुए मानस को जैसे विश्राम मिलता है।

हिन्दी-साहित्य की प्रगति और साहित्यिक जगत् की प्रवृत्तियों के विषय में गुप्तजी को मैंने बहुत सचेत पाया। अपने काम को करने के बाद भी उनमें इतनी शक्ति बच रहती है कि वे इस प्रकार की गति-विधियों से अपने आपको परिचित रख सकते हैं। साहित्य-सदन की चार दिन की गोष्ठी में बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य और जनपदीय-जीवन की काफी चर्चा रही। उन दिनों गुप्तजी के बड़े भाई रामकिशोरजी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित जातकों का हिन्दी अनुवाद पढ़ रहे थे। उन्होंने कहा कि जातकों की कितनी ही कहानियाँ अपने जनपदीय रूपान्तर में वहाँ प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये पाली नाम-सिद्धि जातक (संख्या ९७) से मिलती हुई यह कहानी उन्होंने सुनाई—

एक जनी के घरवारे को नाव हतो ठनठन राय। वाकों जौ नाव बुरौ लगत तौ। नाव बदलवे के लाने वाने कौनउ अच्छौ नाव ढूँढे चाओ। तब वा ढूँढन कौ निकरी।

एक जनो लकरियन को बोझ लए जा रओ तो। वाको नाव हतो धनघनराय। एक जनों मर गओ तो और वाकी अरथी जा रई ती, वाको नाव हतो अमर।

लुगाई ने जौ सब देख सुनकै मन में सोची कै नाव तौ कछू आवत जात नईं आ और जा कई—

(यह गाथा मैथिलीशरणजी ने स्वयं सुनाई थी)।

लकरी बेचत लाखन देखे,
घास खोदतन धनघनराय।
अमर हते ते मरतन देखे,
तुमई भले मेरे ठनठनराय॥

पाली में यह गाथा इस प्रकार है :—

जीवकञ्च मतं दिस्वा,
धन पालिञ्च दुग्गतं।
पन्थकञ्च वने मूढं
पापको पुनरागतो॥

अर्थात् पापक नाम का एक व्यक्ति अच्छे नाम की खोज में घर से निकला। पर मार्ग में जीवक नामधारी व्यक्ति को उसने मरा हुआ देखा। धनपाली नाम की दरिद्र दासी को कमा कर न लाने के कारण पिटते देखा। पन्थक नाम के व्यक्ति को वन में रास्ता भूल कर भटकते हुए देखा, यह देखकर पापक फिर घर लौट आया।[1]

इसी प्रकार रोहिणी जातक (सं० ४५) का यह रूप श्री रामकिशोरजी ने उद्धृत किया :—

---

१ बम्बई संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रणछोदलाल ज्ञानी से लोक में प्रचलित गाथा का यह रूप मुझे सुनने को मिला :—

लछमी तो कंडै चुनै, भीख मंगै धनपाला।
अमरसिंह तो मर गए, भले बिचारे ठनठनपाला।

एक लुहार हतो। वाने एक मजूर घन घालवे कों राखो औ वानें वासें कई के जितै हम हाथ से बताउत जाँय उतइ घन घालत जाय। वाने ऐसो ई करो। एक बेर लुहार के मूँड़ में कुकौरू लगी। कुकावे कों जैसईं वाने मूड़ी पै हाथ धरो तैसई वाने उतई धमाक सें घन दै मारो। लुहार बिचारो होई को होई ढेर होगो।

मैंने श्री रामकिशोरजी से प्रार्थना की कि इस प्रकार की जातक कहानियों का जो बुन्देलखण्ड में अब भी प्रचलित हैं वे एक संग्रह तैयार कर लें। कहाँ ढाई सहस्र वर्ष पहले का जातककालीन भारतवर्ष और कहाँ बीसवीं शती का लोक-जीवन—दोनों में कितना व्यवधान है, पर फिर भी लोक में सुरक्षित साहित्यिक परम्परा कितनी बलवती है कि उसकी अटूट परम्परा आज तक बनी हुई है। अनन्त ज्ञान का संरक्षण करने वाले लोक को शतशः प्रणाम करना उचित है।

इस साहित्यिक गोष्ठी में मुझे बुन्देलखण्ड के कुछ ठेठ शब्दों को निकट से जानने का अवसर मिला। गुप्तजी ने साकेत में सीता के वेष का वर्णन करते हुए जब वे बुन्देलखण्ड की सीमा में पधारीं उन्हें खड़ा कछौटा लगाए हुए चित्रित किया है। उन्होंने बताया कि यह शब्द केवल स्त्रियों के पहराव के लिए प्रयुक्त होता है। घाघर या लहँगे को उंसकेर घुटने तक ऊँचा करने को खड़ा कछौटा कहते हैं। जंघा तक ऊँचा उंसकेरने का नाम पूरा कछौटा है। पुरुषों की घुटने तक की धोती के लिये धुटन्ना शब्द है। कुँवारी कन्या और विवाहिता वधुओं के वेष में भी अन्तर है। कन्याएँ आँचल को कँधेला रूप में कंधे पर डाले रहती हैं। बहुए आँचल को बगल के नीचे से ले जाकर खोंस लेती हैं।

बुन्देलखण्ड में सती स्मारक-स्तम्भ अनेक हैं। इन्हें गाँव की भाषा में सत्ती-सत्तन के चीरा कहते हैं। इन सती पत्थरों पर नीचे 'दो पुतरियाँ' (स्त्री-पुरुष की आकृति) और ऊपर 'चन्दा सूरज' बने रहते हैं। इसी यात्रा में मोठ से कुमराढ और कुमराढ से निमोनिया गाँव तक हमने कई सती स्मारक देखे। उनके लेखों में स्थानीय इतिहास की सामग्री मिल

सकती है। गुप्तजी ने बुन्देलखंड का परिचय देते हुए टपरियों और डांगों का वर्णन किया। पहाड़ी डाँग (वे जङ्गल जिनमें शिकार आदि मिलता है और धरती ऊबड़-खाबड़ होती है) इस प्रान्त की विशेषता हैं। वीर क्षत्रियों की युद्ध-नीति को निर्धारित करने में डाँगों का प्रमुख भाग था। उन रक्षित जङ्गलों के लिये जिनमें घास रखाई जाती है बुन्देलखण्ड में 'रूँद' शब्द प्रयुक्त होता है जो संस्कृत 'रुद्ध' का प्राकृत रूप है। डाँगों में भुरभुरू घास बहुतायत से देख पड़ी जिसे पशु भी नहीं खाते।

वैश्य होते हुए भी जिस प्रकार गांधीजी की उपजाति मोढ है उसी प्रकार गुप्तजी गहोई उपजाति में हैं। गहोई प्राकृत गहवई और संस्कृत गृहपति का रूप है। गहवई या गहपति वैश्यों का उल्लेख ईस्वी सन् के आस-पास के ब्राह्मी लेखों में आया है (ल्यूडर्स लेख सूची सं० १२८८; इसी सूची के लेख-संख्या ११५१ में मुधकिय या मोढ जाति का भी उल्लेख है)। मध्यकालीन शिला-लेखों में गहवई वैश्यों का बहुत प्रभावशाली वर्णन मिलता है। गहोइयों के लिये कहा जाता है—

बारह गोत बहत्तर आँकने

अर्थात् इनमें बारह गोत्र और बहत्तर आँकने या उपनाम होते हैं। हमारे गुप्तजी का आँकना या जातीय उपभेद 'कनकना' है। चिरगाँव के समीप ही वेत्रवती नदी पर एक सुन्दर बाँध बाँधा गया है जिसे पारीछा बंधा कहते हैं, गुप्तजी के साथ इस बाँध की भी यात्रा की। इसमें तैंतीस अठारह फाटक हैं। नदी के बीच में एक निर्जन टापू भी पड़ गया है जिसके लिये यहाँ 'गोदा' शब्द प्रचलित है। यह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से बहुत रमणीय है। पारीछा से उजियान गाँव तक कई मील में अपार जल-राशि से भरा हुआ ताल फैला हुआ है।

बात-चीत के सिलसिले में हमने अहिच्छत्रा की खुदाई में प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी के सुन्दर बरतनों की चर्चा की। प्राचीन भांडों के वर्णन के लिये हिंदी में उपयुक्त नामों की बड़ी आवश्यकता है। कई स्थानों से

नाम सहित बर्तनों की आकृतियों का संग्रह करना पड़ेगा। साहित्य-सदन से भी हमें कुछ शब्द प्राप्त हुए। पारा (सरैयाँ), कुपरा (परात, सं० कर्पर), गौरैया (गौरा नामक मुलायम पत्थर की बनी छोटी कूँडी), घेंडा-घेंडी (घी का बर्तन, घृतभाण्ड), मटेलनी, बरौसी (आग रखने की तौली), दियट, मोना (बड़ा घड़ा), चरुआ, मटका, अधमुआ, डहर, कुठला-कुठिया—ये कुछ नाम हैं जिनकी वैज्ञानिक स्थिति सचित्र और तुलनात्मक अध्ययन के बाद निश्चित करनी पड़ेगी। इसी प्रकार के नाम और भी कई स्थानों से हमें प्राप्त हुए हैं। मलिया के विषय में जब मैंने बताया कि यह संस्कृत मल्लक का रूप है, जिसका उल्लेख कुषाण-कालीन मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भ लेख में आया है तो गुप्तजी आश्चर्य से कहने लगे—सच कहते हैं, डाक्टर, बड़ा कौतूहल होता है; और सियारामजी ने उनकी बात का समर्थन करते हुए कहा—आप तो हमको बहुत पुराना बनाए देते हैं। मैंने कहा—हाँ, यह बात ठीक है, हमारी भाषा का एक-एक शब्द मार्कण्डेय की आयु लिए बैठा है, यही भाषा का अमरपन है।

इस गोष्ठी में एक ऐसा शब्द हमारे हाथ लगा जिसने अकेले ही हमारी यात्रा को सफल बना दिया। खेत में इकट्ठा किए हुये पैर (—सं० प्रकर, प्रा० पयर) और पैर की दँवनी से तैयार होने वाली रास (=राशि) की चर्चा करते हुए श्री रामकिशोरजी कह गए कि रास किसान के लिये पवित्र वस्तु है। उसकी गुदनैटे (गोधन का कंडा) और अकौव्वे के फूल से पूजा होती है और तब रास को किसान 'प्यन' से नापते हैं। रास तोली नहीं जाती थी। आज भी जब तकरी-पसेरी का रिवाज बढ़ गया है रास पर 'प्या' रख कर उसका पूजन करके कम-से-कम पाँच 'प्या' पहले नाप देंगे तब तराजू का प्रयोग करेंगे। पहले घर-घर में प्या होते थे।

इस प्या शब्द को सुनते ही कान खड़े हो गये। मेरा ध्यान ठहर गया। जैसे कोई पुरानी गुत्थी सुलझ गई हो और आज तक अनजाना अर्थ ज्ञात हो गया हो। वास्तविक बात यह थी कि मेरे मन में प्या का

संस्कृत रूप भास गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में 'पाय्य' नामक एक मान या नाप का उल्लेख हुआ है।[1] किसी कोष से मुझे उसका अर्थ समझने में सहायता न मिल सकी थी। बुन्देलखण्डी 'प्या' संस्कृत "पाय्य" का ही अपभ्रंश रूप है। पीछे से मुझे ज्ञात हुआ कि राजपूताने या झालरापाटन में इस नाप को 'पाई' कहते हैं। तोलने के रिवाज से पहले प्रायः पाई से नापकर देने-लेने की प्रथा थी। अब तो एक पंजाबी लोकोक्ति में भी इसका प्रयोग मिला है :—

पाई पासी चंगी। कुडी खडाई मंदी।

अर्थात् किसीका पाई भर अन्न पीसना अच्छा, पर लड़की खिलाना अच्छा नहीं। प्या पीतल का बना हुआ भिगौने की तरह का एक बर्तन होता है। भिगौने में कनौठे होते हैं, प्या में नहीं होते। रास और अन्न के नापने के लिये प्या का प्रयोग अब भी देहातों में मिलता है। एक प्या देकर सवा प्या लेने के नियम को 'सवाई' कहते हैं। इसी प्या नाप से किसानों को ऋण देने के सम्बन्ध में रामकिशोरजी से एक बड़ी चुभती कहानी भी सुनने को मिली।

जी बेरते राम जी लौट कैं आए लंका से जीत कैं, सो उनने प्रजा-जन से पूछी कि तुम सुखी तो रए। सो उनने कई कि महाराज सुखी रए, पर भरत के तिरछान ने मार्रारे। सो उनने पूछी कैसे? का बात भई? सो उनने कई-महाराज, आपके जावे पै अवर्षण भौ सो काल परि गौ। सो सरकारी बंडा[2] खुले। फिर प्यन से रैयत को अनाज दयो गौ। जब सुकाल भौ और हम सरकारी नाज भरिबेकौं आए तब तिरछा सें नाज लओ गौ। वाके मारे हम मरिगे।

---

१ पाय्य-सानाय्य-निकाय्य-धाय्या मान हवि निवास सामिधेनीषु (सूत्र ३।१।१२९) तथा कंस मन्थ शूर्प पाय्य कांडं द्विगौ (सूत्र ६।२।१२२)। द्विगु समास में 'द्विपाय्य' 'त्रिपाय्य' प्रयोग बनते हैं।

२ बंडा—सरकारी बड़े मकान या कुठार जिनमें अनाज भर कर चिन देते थे। उनमें कई हजार मन अन्न आता था। प्रजा में बाँटने के

इसका अभिप्राय यह है कि प्रजा को अन्न देते समय तो प्या बर्तन को सीधा रख कर भर कर दिया गया। पर लेते समय भरत ने इतनी दया की कि प्या को तिरछा करके रक्खा गया और उसपर जितने दाने ठहर गये उतने दाने एक भरे हुए प्या के बदले में चुकता ले लिये गये। फिर भी प्रजा को भारी पड़ा। मुफ्त लेकर वापिस करना बहुत खलता है। इसी मनोवृत्ति के कारण प्रजा ने भरत की उदारता की भी शिकायत ही की।

इसी यात्रा में गुप्तजी के प्रसादरूप में बुन्देलखण्डी 'चम्मू' से हमारा परिचय हुआ। यह चम्मू शब्द भी विलक्षण है। प्राचीन वैदिक 'चमू' का वंशज चम्मू है। 'चम्मू' फूल का बना चौड़े मुँह का लोटा है जो देखने में अत्यन्त सुडौल और सुन्दर होता है। यह ठेट हिन्दू परम्परा का नमूना है जो अब भी कहीं-कहीं बच गया है। वैसे तो विदेशी प्रभाव ने हमारे लोटों तक की आकृति को अछूता नहीं छोड़ा है। जनपद की प्रशान्त गोद में कला के पूर्णतम नमूने अब भी कुछ बच गये हैं, उन्हींमें बुन्देलखण्ड का चम्मू है। इसका पेटा चीमरी की भाँति का होता है। अंग्रेज़ी fluted design के लिये अत्यन्त उपयुक्त यह शब्द हमारे हाथ लगा—चीमरी की भाँति। खरबुजिया फाँकों की तरह के डौल को चीमरी कहते हैं जो कि संस्कृत 'चिर्मटिका' का तद्भव रूप है। यह नाम भी भारतीय शिल्प के अलंकरणों की प्राचीन परिभाषाओं की याद दिलाता है। ये परिभाषाएँ अब किसी एक ग्रन्थ या कोष में सुरक्षित नहीं रह गई हैं। जनपद-साहित्य और लोक-ज्ञान की परम्परा ही उनकी धात्री है। जौंसार प्रदेश और अहिच्छत्रा में भी हमें इस प्रकार के कई शब्द मिल सके थे। जनपदों की जीती-जागती परम्परा में से सम्भव है इस अमूल्य निधि का कुछ अंश पुनः प्राप्त किया जा सके।

लिये वे बंडे खोल दिये जाते थे। गोरखपुर ज़िले के सोहगौरा स्थान तथा बोगरा ज़िले के महास्थान गाँव से प्राप्त मौर्यकालीन ताम्रपट्ट लेखों में इस प्रकार के सरकारी कोठारों से अन्न के वितरण का वर्णन है।

: १४ :

लोकोक्ति-साहित्य का महत्त्व

लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपा कर सूर्य-रश्मि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियां प्रकृति के स्फुलिंगी (रेडियो-एक्टिव) तत्त्वों की भांति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। उनसे मनुष्य को व्यावहारिक जीवन की गुत्थियों या उलझनों को सुलझाने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। लोकोक्ति का आश्रय पाकर मनुष्य की तर्क-बुद्धि शताब्दियों के संचित ज्ञान से आश्वस्त-सी बन जाती है और उसे अंधेरे में उजाला दिखाई पड़ने लगता है, वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में तुरन्त समर्थ बन जाती है।

लोकोक्ति-साहित्य प्रकृति के ज्ञान की भांति सार्वभौम है। न उसका कोई कर्ता है न उसका देश-काल से उतना घनिष्ट सम्बन्ध है जितना अन्य साधारण साहित्य का होता है। सदा बहने वाले वायु और सूर्य के प्रकाश के समान लोकोक्तियाँ मानवमात्र की संपत्ति हैं और उनके रस का स्रोत सबके लिये खुला रहता है। लोकोक्तियों का रस भंडार अक्षय है। हजारों बार कही-सुनी जाने पर भी लोकोक्ति का जब अवसर पर व्यवहार किया जाता है तब उसमें से सदा एक-सा साहित्यिक चोज और आनन्द उत्पन्न होता है।

लोकोक्ति साहित्य संसार के नीति-साहित्य (विज्डम लिटरेचर) का प्रमुख अंग है। मिस्र आदि प्राचीन संस्कृतियों में भी इस प्रकार के

बुद्धिमूलक साहित्य का अच्छा विकास हुआ था। विद्वानों का विचार है कि बाइबिल में जो Proverbs नामक प्रकरण है, जिसमें व्यवहार-साधक ज्ञान के अत्यन्त प्रदीप्त और परिमार्जित सूत्र पाये जाते हैं, उस पर मिश्र बेबीलन आदि के बुद्धिमूलक नीति-साहित्य (Wisdom Literature) का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बाइबिल के इस अंश का जो महत्त्व पहिले कभी नहीं प्रकट हुआ था वह अब तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात हो रहा है।

भारतवर्ष में भी इस प्रकार के नीतिमूलक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन काल से पाई जाती है। उपनिषद् युग के अन्त में बुद्धिपूर्वक सोचने की प्रवृत्ति का बहुत विकास हुआ, जिसकी झलक बौद्ध साहित्य में भरपूर मात्रा में विद्यमान है। वही समय सूत्र-शैली के विकास का भी युग था। लोकोक्तियां और नीति-साहित्य का अत्यधिक मंथन इसी काल में सबसे पहिले प्राप्त होता है। कामंदक ने लिखा है कि आचार्य विष्णुगुप्त ने अपनी प्रखर बुद्धि के प्रताप से अर्थशास्त्र के महासमुद्र से नीतिशास्त्ररूपी अमृत का मंथन किया। आर्य चाणक्य बुद्धि के पुजारी थे। उन्होंने स्वयं मुद्राराक्षस नाटक के आरम्भ में बुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा है कि कार्य साधने के लिये अकेली बुद्धि ही सैकड़ों सेनाओं से बढ़कर है बुद्धि की महिमा नन्दों को उखाड़ फेंकने में सिद्ध हो चुकी है।

एका केवलमर्थसाधन विधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥

वस्तुतः चाणक्य द्वारा प्रदर्शित नीति का मार्ग बुद्धि का मार्ग है। चाणक्य की श्लोकात्मक नीति के अतिरिक्त उनका रचा हुआ चाणक्य सूत्र नामक एक प्राचीन ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है, जिसे कौटिल्य के व्यावहारिक नीति-ज्ञान का-मथा हुआ मक्खन ही कहना चाहिए। इसके ५७१ सूत्रों में अनेक सूत्र लोकोक्ति शैली के हैं, जैसे—

१. बिना तपाये हुए लोहे से लोहा नहीं जुड़ता (नातप्त लोहं लोहेन संधत्ते)

२. बाघ भूखा होने पर भी घास नहीं खाता (न क्षुधार्तोऽपि सिंह-स्तृणञ्चरति)

३. कलार के हाथ के दूध का भी मान नहीं (शौण्डहस्तग पयोऽप्यवमन्येत)

४. लोहे से लोहा कटता है (आयसैरायसं छेद्यम्)

५. उधार के हजार से नकद की कौड़ी भली (श्वः सहस्त्रादद्य काकिणी श्रेयसी, ४।५८) । इसी कहावत का चाणक्य सूत्र में एक रूपान्तर यह है—श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः (४।५९) कल के मोर से आज का कबूतर अच्छा है। ये दो सूत्र उस युग के प्रतिनिधि हैं, जब परोक्ष की बनिस्बत प्रत्यक्ष जीवन के प्रति जनता को अधिक सचेत किया जा रहा था। ये दो सूत्र नगद धर्म की आधार-शिला बताते हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में सत्य ही इन्हें लोकायत दर्शन से सम्बधित कहा गया है और वहां 'श्वः सहस्त्रादद्यकाकिणी श्रेयसी' का रूप इस प्रकार है—

> वरं सांशयिकान्निष्कात् असांशयिकः
> कार्षापण इति लोकायतिकाः ।

निष्क सोने का सिक्का था और कार्षापण चाँदी का। सूत्र का भाव यह है कि खटके वाले निष्क से बिना खटके का कार्षापण अच्छा है। निष्क और कार्षापण ईस्वी पांचवीं शताब्दी पूर्व में प्रचलित थे। अतएव इस कहावत की आयु लगभग उतनी प्राचीन तो अवश्य होनी चाहिए। उधार के मोर से नगद का कबूतर अच्छा है, इसी भाव का कायाकल्प हिन्दी की 'नौ नगद न तेरह उधार' कहावत में आज भी मौजूद है।

प्राचीन पाली, प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों में भारतवर्ष के बुद्धि-परायण साहित्य की बहुमूल्य सामग्री पाई जाती है। उसका व्यवस्थित अध्ययन और उसके क्रमिक विकास का अनुशीलन बहुत ही रोचक हो सकता है। सर मानियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोष की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि अपने नीति-शास्त्र की चतुरता में भारतवासी संसार

में अद्वितीय रहे हैं।'[1] महाभारतादि ग्रन्थों में व्यावहारिक बुद्धि से सम्बन्धित नीति-शास्त्र की सामग्री का अतुल भण्डार है। उसकी परम्परा संस्कृत से प्रांतीय भाषाओं में होती हुई हमारे समय तक अटूट चली आई है।

इस नीति-शास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश संस्कृत न्यायों के रूप में प्रचलित था। काकतालीय, अजाकृपाणीय, अरण्यरोदन, अन्धदर्पण आदि सैकड़ों न्यायों के रूप में संस्कृत की चुस्त कहावतें ही पाई जाती हैं। लौकिक न्यायांजलि ग्रन्थ के तीन भागों में जैकब नामक विद्वान् ने अपने पचास वर्षों के अध्ययन के फलस्वरूप इन प्राचीन न्यायों पर बहुत ही सुन्दर सामग्री का संकलन किया था। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत लोकोक्तियों का काल क्रमानुसार संकलन और संपादन अभी होना बाकी है। हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्राचीन न्याय और लोकोक्तियों का उत्तराधिकार बहुत अंशों में यथावत् चला आया है। राजशेखर का 'हत्थकंकणं किं दप्पणेण पेक्खीअदि' (कर्पूरमंजरी १।१८) हिन्दी में 'हाथ कंगन को आरसी क्या', इस सुन्दर और चुस्त रूप में जीवित है। इसी प्रकार और भी न जाने कितना लोकोक्ति-साहित्य प्राचीनकाल की विचार-पटुता को लिए हुए अर्वाचीन कहावतों में घुल-मिलकर बचा हुआ है।

परन्तु साहित्य के अन्य अंगों की भांति लोकोक्ति-साहित्य का भी विस्तार और विकास होता है। हिन्दी भाषा में समय और परिस्थितियों

---

१ In some subjects too, especially in poetical descriptions of nature and domestic affection, Indian works do not suffer by a comparison with the best specimens of Greece and Rome, while in the wisdom, depth and shrewdness of their moral apothegms they are unrivalled, p. xxi.

के फेर से हजारों नई लोकोक्तियां बन गई हैं । विशेषकर जानपदी भाषा में तो कहावतों का अभी तक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान बना है। यद्यपि हिंदी भाषा की कहावतों के कुछ संग्रह और कोष इधर प्रकाशित हुए हैं, विशेषकर फैलन ने हिन्दी कहावतों का एक बहुत ही परिश्रम-साध्य संग्रह तैयार किया था[1] फिर भी इस दिशा में अभी बहुत कुछ कार्य बाकी है। मराठी, काश्मीरी[2] पंजाबी, पश्तो, बंगला, उड़िया, तामिल आदि भाषाओं में भी लोकोक्तियों के अपने-अपने संग्रह प्रकाशित हुए हैं, परन्तु वैज्ञानिक रीति से इस विषय पर अभी तक किसी भाषा में किसी वृहत् अध्ययन का आयोजन नहीं किया गया । कम-से-कम हिन्दी के लिये तो यह बात सच है कि लोकोक्तियों के एक सर्वांग-पूर्ण अध्ययन तक पहुंचने से पहिले प्रादेशिक एवं जनपदीय बोलियों में प्रचलित कहावतों के सुन्दर संग्रह तैयार हो जाने चाहिएं। जानपदी बोलियों के अध्ययन में जिन साहित्य-सेवियों को रुचि है, वे अपने एकाकी प्रयत्न से भी इस दिशा में बहुत कुछ सफल कार्य कर सकते हैं। दो वर्ष हुए, हमने अपनी चिरगांव की यात्रा में वहीं के उत्साही कार्य-कर्ता श्री हरगोविन्दजी के पास बुन्देलखंडी कहावतों का एक हस्तलिखित संग्रह देखा था, जिसमें लगभग दो हजार कहावतें थीं। इसकी निम्न-लिखित कहावत पर बुन्देलखण्डी भाषा की कितनी सुन्दर छाप है—

अक्कल बिन पूत कटैंगर से।
बुद्धी बिन बिटिया ढैंगुर सी।

---

१ Fallon's Dictionary of Hindustani Proverbs: Including many Marwari, Punjabi, Magahi, Bhojpuri, and Trihuti proverbs, sayings, emblems, aphorisms, maxims, and similes (1886).

२ A Dictionary of Kashmiri proverbs and sayings by Rev. J. H. Knowles (885), explained and illustrated from the rich and interesting folk-lore of the valley.

कठेंगर = किवाड़ों के पीछे का अर्गल या वेंड़ा।

ढेंगुर = उजरऊ या ईतरी गाय के गले में डाला जाने वाला डंडा।

कठेंगर या ढेंगुर की उपमाएं जनपदीय वातावरण के अत्यन्त सन्निकट हैं और ठेठ साहित्य की दृष्टि से उनमें कितना अधिक रस भरा है! बुंदेली की तरह अवधी, भोजपुरी, बाँगड़ू, मेरठ की कौरवी और पहाड़ी आदि बोलियों की कहावतों पर भी कार्य होने की आवश्यकता है। इनकी सम्मिलित सामग्री के आधार पर ही हिन्दी लोकोक्तियों का विशद तुलनात्मक संग्रह किसी समय तैयार किया जा सकेगा। यह बात भी जानने योग्य है कि कहावतों का जितना गहरा सम्बन्ध बोलियों से रहता है उतना साहित्य की भाषा से नहीं। कहावतों को लोक में बोल-चाल की ठेठ भाषा की सच्ची पुत्रियां कहा जा सकता है। उनके सर्वांगपूर्ण संग्रह के लिये घरों और गांवों में फैली हुई अपनी भाषा की बोलियों को निरन्तर छानने की आवश्यकता पड़ेगी। विशेषतः स्त्रियों की घरेलू बोल-चाल की कहावतों में निजी परिमित जगत् में पनपने वाली भावनाओं की सच्ची झांकी मिल सकती है। मथुरा में एक पंजाबी बहिन की बोली को कुछ समय तक छानने पर मैं निम्नलिखित सुन्दर कहावतें प्राप्त कर सका था—

१—सिरों गंजी ते कंघियां दा जोड़ा।

(इसी भाव की बनारसी कहावत उन्हीं बहिन ने सुनाई थी—
आंखी एको नाहीं कजरौटा नौठे)

२—पाई पीसी चंगी। कुड़ी खड़ाई मंदी।

(किसी का पायली भर अनाज पीस देना सुगम है, पर लड़की खिलाना टेढ़ा काम है।)

३—घर पतली बाहर संगनी ते मेलो मेरा नाम।

(घर वालों को पतली छाछ और बाहर वालों को गाढ़ी देकर अपने मेल-जोल की शेखी बघारने वाली स्त्री के प्रति कूटोक्ति है।)

४—सुथनी दिया साका तैनूं हलवा माड़ा।
घघरी दिया साका तैनूं दुआ दिनां दा फाका॥

(सुथने के सगे सम्बन्धियों अर्थात् पीहर वालों को हलवा-माड़ा देना, और घघरी के सगे अर्थात् ससुराल वालों को दो दिन का फाका कराना)

५—खसम न पूछे बातड़ी ते फिट्ट सुहागिन नाम।

६—जिन्ना न्हाती उन्नाई पुन्न रै वे नाईया हौर न मुन्न।

(जितना नहा चुकी उतना ही पुन्न हो गया। रह भई नाई और न मूँड़)

७—अग्गे नी सामान, नी जड़ाऊ छल्ला।
टप चढ़ी समान की करे मुहल्ला॥

(पहिले से ही चीज-वस्त नहीं है, अब कूद कर आसमान पर चढ़ गई, मुहल्ले वाले क्या कर लेंगे अर्थात् पूरी निर्लज्जता धारण करली)

८—उजड़ियां भरजाइयां वली जिनां दे जेठ।

(जिनके जेठ रखवाले हों भौजाइयां उजड़ी जानिये)

९—सुत्ते पुत्तर दा मुँह चुम्मियाँ।
ना मांदे सर हसान नप्यौ देसर हसान॥

(सोते लड़के के चूमने (प्यार प्रकट करने) से न मां पर अहसान, न बाप पर)

१०—सेली पाई पिन्ननी, ना मंगनी ना घिन्ननी।

(भिखमंगिन (पिन्ननी) को सहेली बनाने से न कुछ लेना, न देना, (घिन्नना=ग्रहण करना) अर्थात् भाजी-बायने का व्यवहार न चल सकेगा, यह उक्ति धन्नी पोठो-हार की है)

११—बाज तेल ना बलन मसालां। बाज प्रेम ना हाँई।

(विना (बाब) तेल के मशाल नहीं जलती, विना प्रेम के आह नहीं निकलती)

१२—मरगे सांई दे लोक। ना हिरख ना ससोस।

(उनके मरने का किसीको सुख-दुःख नहीं।)

१३—जून फिट्ट के बांदर अर मनुष्य फिट्ट के जांजी।

(आदमी अपनी जून खोकर बन्दर के रूप में जन्म लेता है, मनुष्य बिगड़कर बराती बन जाता है।) बरातियों को तीन दिन जो मस्ती चढ़ती है, उसपर करारी चुटकी ली है।

१४—गुरु जिना दे टप्पने, ते चेले जान शड़प्प।

(जो गुरु कूदना जानते हैं, उनके चेले मुण्डक मारना जानते हैं।) हिन्दी में, गुरु गुड़ ही रहे चेला शक्कर हो गए।

१५—ओच्छे जट्ट कटोरी लब्भी पानी पी-पी आफरियां।

(ओछे जाट को कटोरी मिल गई तो पानी पी-पीकर अफर गया।)

इसी प्रकार अपनी स्त्री के मुख से ठेठ मेरठ की बोली की करीब साठ कहावतें दो-तीन वर्ष के भीतर मैं लिख सका था, जो अन्य किसी प्रकार प्राप्त न हो सकती थीं। ये उक्तियां नागरिक जीवन से दूर गांव के मनोभावों तक हमें पहुंचाती हैं—

१—पैरी ओढ़ी धन दिपै। लीपा पोता घर खिलै।

२—धियों की मां रानी। बुढ्यांत भरेगी पानी।

(बिटियों की मां रानी होती है, क्योंकि जवानी में बेटियां उसका काम कर ही जायंगी, पर बुढ़ापे में उसे अपने हाथ से काम करना पड़ेगा।)

३—खाले-खाले बहुअल ना। पहरले-पहरले धीयल ना।

(सास के प्रति उक्ति—जबतक बहुएँ नहीं आतीं खाले; जबतक बेटियां नहीं होतीं, पहनने का शौक पूरा करले।)

४—काम काज कू थर-थर कांपे खाने कू मरदानी।

५—लगी हल्द हुई बल्द।

(पतली भी कुंवारी लड़की ब्याह होने पर पनप जाती है।)

६—कदीना कदी तो भैंस पसर कू चली। सो सूखाई पड़ गई।

(पसर=फलने या गर्भ-धारण के लिये; संस्कृत उपसर।)

७—पूड़ी ना पापड़ी । पटाक बहू आ पड़ी ।

(चटपट व्याह हो जाना ।)

८—आग पै कू वारी । खसम निगोड़े के माथे से मारी ।

९—सुसरे कू पड़ी भाजर की । बहू कू बिंदी काजर की ।

१०–हाथ चूरी न सिर लटूरी । आई मेरी सुहाग भाग की पूरी ।

(शृंगारविहीन फूहड़ बहू पर व्यंग्य उक्ति)

११—पूत लड़ाया ज्वारी । धी लड़ाई क्वारी

(अधिक प्यार से दोनों बिगड़ते हैं)

१२—जिसके सास ना ऊ करा बड़ी ।
जिसके ननद ना ऊ दितार बड़ी ॥

(करा =सेवा करने वाली, दितार=देने-लेने वाली)

१३—घायल कराहवे ना, सेका कराहवे ।

१४—कै इजरियाई बदले ।
कै घघरियाई बदले ।

(इजरिया=इजार पहनने वाली अर्थात् कुवांरी, घघरिया=घाघर पहनने वाली व्याही हुई । यह उक्ति छोटी उम्र और बड़ी उम्र की शादी पर है । या तो छोटे का व्याह करके लड़की को बढ़ने दो फिर पति से मिले, या बड़ी उम्र में शादी करके उसे शीघ्र पति से मिलने दो)

१५—कमाऊ आवें डरते । निखट्टू आवें लड़ते ।

१६—गूदड़िया मरकोल्ले मारे हुरमत मरै जड़ाई ।

(गरीब आदमी मरकोला (बहुत मोटी किस्म का कपड़ा) पहन कर चैन करता है, पर रईस शान में पतला कपड़ा पहन कर जाड़ा खाता है ।) मरकोली=एक प्रकार का कपड़ा पहिले बनता था, जिसका नाम १७ वीं-१८वीं शती के भारतीय वस्त्र व्यवसाय में आया है । [देखिए डा० राधाकमल मुकुर्जी कृत 'ऐकनामिक हिस्ट्री आव इण्डिया, (१६००-१८००)] यह शब्द साहित्य में न बचकर एक कहावत में पड़ा रह गया है ।

१७—मरे बावा की पस्सों सी आँख

(जो मर गया हो उसकी बड़ाई के पुल बांधना।) पस्सों सी आँख, यह उपमा बहुत पुरानी है। एक सहस्र वर्ष पूर्व के भारतीय साहित्य में यह आ चुकी थी। राजशेखर ने कर्पूर मंजरी में 'णअणाइं पसइ सरिसाइं =नयने प्रसृतिसदृशे, २।३८' उपमान का प्रयोग किया है।

इस प्रकार की न जाने कितनी सामग्री जनपदीय अध्ययन की शैली से एकत्र की जा सकेगी। इसका रूप शिष्ट साहित्य के अनुकूल न भी हो तो भी अपने विशाल जीवन के कुछ अन्तरंग पहलुओं को समझने में इससे अवश्य सहायता मिल सकती है। लोकजीवन का सर्वांगपूर्ण अध्ययन ही अर्वाचीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत आता है।

राजस्थान हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत एक विस्तृत भू-प्रदेश है जिसमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाड़ौती और ढूढारी बोलियों के अन्तर्गत विपुल जनपदीय साहित्य विद्यमान है। क्रमशः इस साहित्य की कहावतें, मुहावरे, धातुपाठ, पेशेवर शब्द, कहानी, लोकगीत आदि का संकलन करना राजस्थानी भाषा के प्रेमियों का कर्तव्य है। यह हर्ष की बात है कि हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर ने इस ओर पग बढ़ाया है। श्री लक्ष्मीलालजी जोशी ने प्रस्तुत संग्रह[1] में मेवाड़ की लगभग १००० कहावतों का संग्रह करके एक आवश्यक अंग की पूर्ति की है। कहावतों का विभाग इस प्रकार है—

अ	नीतिपरक	३८३
आ	मानव-प्रकृति सम्बन्धी	१६३
इ	अन्योक्तियां	११६
ई	जाति-सम्बन्धी	८७
उ	इतिहास-सम्बन्धी	८
ऊ	ऋतु-सम्बन्धी	८
ए	विविध	४१
		१०३६

१ मेवाड़ की कहावतें, भाग १, हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर, जिसकी भूमिकारूप में यह लेख लिखा गया था।

कहावतों के इस प्रकार के विषय-विभाग के सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकता है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपलब्ध सामग्री की परीक्षा की जायगी, विषय-विभाजन की प्रणाली भी स्पष्टतर होती जायगी। परन्तु प्रथम उद्देश्य तो एकबार सामग्री का संगृहीत हो जाना है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक कहावत का अध्ययन भी आवश्यक है। कहावत संख्या १३५।१६६, १७५।४२ और १८३।७८[1] में जान शब्द बारात के लिये प्रयुक्त है। यह राजस्थानी भाषा का चालू शब्द जान पड़ता है। मूल में यह शब्द संस्कृत यज्ञ के अपभ्रंश जएण से निकला है—

इसी प्रकार, पोठ्यों=प्रोष्ठ, बैल (१५७।८०); वेह (१४२।२) = दह, ह्रद; भोई (१८०।६२)= भोगिक, हाथी की सेवा के लिये नियुक्त परिचारक (आईन अकबरी में अबुल फज़ल ने इसका वर्णन किया है); भागे=टूटना, सं० भग्न (१६३।११, १५६।६१); फिया (१२२।६६) =तिल्ली, सं० प्लीहा। नंग जण्यां ए नानकी, तरे-तरे की बानगी (१२३।१००) कहावत का नानकी (=मां) शब्द बड़ा विलक्षण है। ऋग्वेद में सिर्फ एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है—'उपल प्रक्षिणी नना' (ऋ० ६।११२।३) नना अर्थात् मां चक्की पीसने वाली है। उसके बाद कुषाण काल की शक मुद्राओं पर नना देवी का नाम आया है। हिन्दी के नाना-नानी शब्दों में भी नना का ही सम्बन्ध ज्ञात होता है। मेवाड़ी बोली में मां के लिए 'नानकी' शब्द प्राचीन ऋग्वेदीय अर्थ का स्मरण दिलाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोलियों में सुरक्षित

---

१ पहला अङ्क पृष्ठ और दूसरा कहावत की संख्या बताता है।

यज्ञ——जएण——जन्न——जान।

पंजाबी में भी जन्न बरात को कहते हैं। हिन्दी का जनवासा शब्द भी 'जएण वासक' से बना है। विवाह एक यज्ञ समझा जाता था, इसी से यज्ञ शब्द बरात के अर्थ में भी प्रचलित हो गया।

अनेक शब्दों की परम्परा वैदिक भाषा तक पहुँचेगी। इसी प्रकार के इण्डू (=ईंडरी) और यून=जून (मूंज की मोटी रस्सी) ये दो शब्द मेरठ की देहाती बोली में जीवित मिले जो श्रौत सूत्रों में प्रयुक्त हैं—अर्थ दोनों जगह वही है, पर संस्कृत साहित्य में उनके प्रयुक्त होने का अवसर नहीं आया। हो सकता है, हिन्दी की दूसरी बोलियों में भी उनकी परम्परा बच गई हो। बैल के लिये पोठ्यो शब्द भी सं० प्रोष्ठ का सूचक है और राजस्थानी भाषा में बच गया है। हिन्दी की अन्य बोलियों में वह नहीं पाया जाता है। यह भी वैदिक युग का शब्द है। प्रोष्ठ पद, प्रोष्ठ के पैर के आकार वाला—यह एक नक्षत्र का मशहूर नाम था। 'थारे भावे नागलो मारे भावे कतीर' (१५४।६७) का कतीर शब्द प्राचीन ग्रीक Kassiteros और संस्कृत कस्तीर से सम्बन्धित हैं। 'तुम्हें सीसा अच्छा लगता है, हमें रांगा—अपनी-अपनी रुचि है।'

इस प्रकार के अन्य अनेक शब्दों की, जो कहावतों में नगीनों की तरह जड़े रह गए हैं, धात्री जनपदी बोलियां हैं। उनके स्वरूप का उद्धार करना साहित्यिकों का कर्तव्य है। इस संग्रह की कहावतों में अनेक शब्द ठेठ राजस्थानी भाषा के भी हैं, जैसे लांटी, पगरखी (१६८।३४), कबरी (१६११७), टेटा (१८८।३)., मांटी (१३४।१५६) आदि। हमारी सम्मति में ऐसे सब शब्दों का एक कोष इसी प्रकार की पुस्तकों के अन्त में होना आवश्यक है। इससे पुस्तक की वैज्ञानिक उपादेयता बढ़ती है।

लोकोक्तियों का अर्थ निर्देश करने के विषय में इस बात का सदा स्मरण रखना चाहिए कि भावार्थ से पहले शब्दार्थ अवश्य स्पष्ट करके लिखा जाय। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भावार्थ शीघ्र ध्यान में आने से शब्दार्थ का स्पष्टीकरण छूट जाता है। यथा, 'रोटी खावे मक्की की अर बड़ाई मारे कांसा की', (१२१।६०) उक्ति में कांसे की बड़ाई मारने का भावार्थ है लम्बी-चौड़ी तारीफ़ करना, पर शब्दार्थ है कांसे के बर्तनों में परोसे हुए श्रेष्ठ-सुन्दर (या राजकीय) भोजन की प्रशंसा

करना। लोकोक्ति १४५।२२ का शब्दार्थ स्पष्ट है। लोकोक्ति १३२।१४६ में भींजा पाहुना क्यों भंगी बराबर है, यह स्पष्ट होना चाहिए। अथवा १६१।६ में कवि और चित्रकार को भी पांच नरक के द्वारों में गिनने का क्या हेतु है, यह जानने की इच्छा रहती है। सुन्दर स्त्रियों के प्रति चित्र और कविता द्वारा राजाओं को उकसाने के कारण शायद वे निन्दा के पात्र समझे गए। लोकोक्ति १८६।२ में नगर-सेठ की ऐतिहासिक घटना की अपेक्षा व्यंग अधिक प्रबल जान पड़ता है और यह ऋण लेकर मौज करने वाले किसी नादिहन्द की उक्ति जैसी लगती है। अर्थ की दृष्टि से निम्न लोकोक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है—

आसोजां का तावड़ा में जोगी वेग्या जाट।
बामण वेग्या सेवड़ा, ज्यों बाण्या वेग्या भाट॥
(१८८।२)

पुस्तक का अर्थ 'आश्विन मास में धूप तेज पड़ती है। उसमें फिरने से जाट जोगी, ब्राह्मण सेवक और महाजन भाट जैसे हो जाते हैं।' ठीक नहीं है।

यह उक्ति बहुत ही चोखी है और हमारे जीवन की तीन विशेष घटनाओं पर इसमें चुटीली मार है। इसका पूरा अर्थ इस प्रकार खुलता है—

आश्विन मास की धूप में जाट जोगी हो जाता है, ब्राह्मण जैनी बन जाता है, और महाजन भाट बन जाता है।

१ कुआर की करारी धूप में कहा जाता है कि कस्तूरिया हिरन भी काले पड़ जाते हैं। उस घाम में भी जाट खेत में हल चलाता है और कातिक की बुआई के लिये खेत तैयार करता है। उसका वह परिश्रम योगी के पंचाग्नि तापने से कम नहीं कहा जा सकता।

२ ब्राह्मण सेवड़ा बन जाता है। 'सेवड़ा' शब्द का अर्थ सेवक नहीं है। सेवड़ा संस्कृत में 'श्वेतपट' अर्थात् श्वेताम्बर का अपभ्रंश रूप है।

जायसी के पद्मावत में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—

सेवरा, खेवरा, वानपर, सिध, साधक, अवधूत ।
आसन मारे बैठ सब जारि आतमा भूत ॥

(हिन्दी शब्दसागर पृष्ठ ३६६८)

कुआर महीने के पितृपक्ष में निमंत्रणभोजी ब्राह्मण प्रायः एक ही बार दिन में भोजन कर लेता है, रात में नहीं खाता। श्राद्ध में जीमने वाले भोजनभट्टों पर किसीने कहावत में क्या अच्छा कूट किया है। इसी संग्रह की लोकोक्ति सं० १६६।३ 'बामण स्वामी सेवड़ा जात-जात ने मारे' में भी 'सेवड़ा' का यही अर्थ है, 'सेवक' नहीं!

३ कुआर में बनिया भाट बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि असौजी फसल की पैदावार से अपने देन-लेन की उघाई करते हुए महाजन को भाट की तरह किसान आसामियों के लिये मीठे शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है।

प्रस्तुत संग्रह में एकत्र सामग्री बहुत रोचक है। कुछ कहावतों में पूरा साहित्य का रस आता है, जैसे 'सोढीजी बाला सिणगार करे' (१८७।६) अथवा 'बखारा की जोड़ी अर डूँगर जाय पोढ़ी' (१६३।१०७)। कितनी ही उक्तियां भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और गठे हुए (प्रतिष्णात) सूत्रों की तरह हैं, जैसे 'बीज के झपके मोती पोयले तो पोयले' १६३।१०८), 'चरणामृत का गटका, मटे चौरासी का भटका' (१६३। ११) ; बामण को धन सबोड़ा में, धाकड़ को धन लपोड़ा में (११७। ५१) आदि। कुछ कहावतें ऐसी हैं जिनमें ठेठ राजस्थानी जीवन या मनोभावों की छाप है, जैसे सरदारों की जान में......मन्न आसमान में (१८३।७८); रजपूत का दूता अर छाळी का तीजा ने जगानी (१८३-।७६); भोळी मां का दावा बेटा अर डावी मां का भोळा बेटा (१८१।-६७); घोड़ा की जात पराव अर रजपूत की जात जमीं (१७०।१८), आदि। प्रायः सब बोली और भाषाओं की कहावतों में इस प्रकार के स्था-

नीय और प्रादेशिक प्रभाव अवश्य पाए जायँगे। उनके अस्तित्व से लोकोक्तियों के साथ भूमि का निकट सम्बन्ध सिद्ध होता है। जो भूमि सर्वभूतों की धात्री है, जहाँ भाषा के नाना रूप जन्म लेते रहते और पनपते हैं, वही भूमि युग-युगान्तरों में लोकोक्तियों को जन्म देकर उनका पालन और संवर्धन करती है। मनुष्य की अन्य सब वस्तुओं की भांति लोकोक्तियां भी भूत और भविष्य के साथ अटूट सम्बन्ध रखती हैं और विकास के अविचाली नियमों के अनुसार लोक की मानसभूमि में जन्म, वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होती रहती हैं। उनके विकास का अध्ययन बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्द्धक हो सकता है।

: १५ :

हिंदी पत्रकार और भारतीय संस्कृति

बहुविध अभिराम पुष्पों की रमणीयता को पहचानने की आंख और उनके मधुमय अंश को संगृहीत करने की शक्ति—ये दो ही पत्रकार की सफलता की कुंजी हैं। पत्रकार गीता के 'यद्यद्विभूतिमत्सत्वं' श्लोक को जीवन में प्रत्यक्ष करता है। जहां-जहां तेज उसे दिखाई पड़ता है वहीं-वहीं से वह उसका संचय करता है। जहां विभूति—श्री—ऊर्ज का निवास है वहीं पत्रकार की पहुँच है। 'विभूति' क्षात्र वैभव राजनीति है। 'श्री' ब्राह्म-धर्म या संस्कृति है और 'ऊर्ज' वैश्य-धर्म या भौतिक समृद्धि है। इन्हीं तीनों की उपासना पत्रकार का ध्येय होना चाहिए। ये ही तीन पदार्थ हमारी जनता या राष्ट्र में बसने वाला जन चाहता है।

विभूति श्री ऊर्ज

प्राण मन शरीर

इनको पुनः तेजस्वी बनाना पत्रकार का कर्तव्य है। राष्ट्र या समाज में इनको प्रदीप्त करने की जहां से सामग्री मिल सकती है उसी दीप्ति-पट को उठाकर प्रकाश का स्वागत करना पत्रकार को इष्ट होना चाहिए। इसीसे राष्ट्र का प्राण, मन, शरीर पुष्ट बनाया जा सकता है।

हिन्दी-पत्रकार कला तो भारत के भावी पत्रकारों की नींव या प्रतिष्ठा हो सकती है, अगर ढंग से इस कला का संचालन किया जाए। भारत भूमि को देखने, जानने और समझाने की जो शुद्ध भारतीय पद्धति है इस समय उसकी आवश्यकता है। राष्ट्र-निर्माण में उसकी पदे-पदे आवश्यकता है, जनता भी उसको जानना चाहती है। यदि हिंदी पत्रकार उससे परिचित है तो अंगरेजी पत्रकारों को भी वह सिखा सकता है और उसका ज्ञान उन पत्रकारों की ईर्ष्या का विषय बन सकता

है। प्राचीन साहित्य में से कितना राष्ट्र के नवप्राण में पुनः ढाला जा सकता है—इसकी कुंजी हिंदी पत्रकारों के हाथ में ही है। हिंदू संस्कृति से भारत के भावी निर्माण में कितनी अधिक सहायता मिल सकती है—इसको पहचानकर लेखनी उठाने वाले पत्रकार जिस उत्साह से कार्य करेंगे वह बहुत ही श्लाघनीय होगा। राजनीति, भाषा-निर्माण, पारिभाषिक शब्दावली, साहित्य, संस्कृति, राष्ट्रीय रंगमंच, कला, संगीत अनेक विषयों की भारतीय पद्धति का ज्ञान भारतीय पत्रकार के लिये आवश्यक है और हिन्दी का पत्रकार उसका प्रतिनिधि समझा जायगा। मनु ने गंगा-यमुना से सींचे जाने वाले मध्य देश के लिये माना है कि यह देश मातृभूमि का हृदय है और यहीं से पृथ्वी में चरित्र की शिक्षा फैली है। यही ऊँचा लक्ष्य हिंदी-पत्रकार का होगा। वह भारतीय पत्रकार-कला का मानदंड होगा। उससे ही अन्य पत्रकार अपना जीवन-रस ग्रहण करेंगे। यह आदर्श मेरे मन में हिंदी भाषा की पत्रकार-कला के लिये है। मनु का 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः' वाक्य हिंदी-पत्रकार के लिये अक्षरशः सत्य है अर्थात् भारतीय भाषाओं के अन्य पत्रकार हिंदी के अग्रजन्मा 'अग्रेत्वर' (यह शब्द अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त का है) संपादकों से अपने लिये शैली, आदर्श, चरित्र (Code of conduct) की शिक्षा ग्रहण करें। इसके लिये सम्पादकों को साधना और तप की आवश्यकता है। राष्ट्र का जन्म तप से ही होता है। कहा है:—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षामुपानिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

'ऋषियों ने कल्याण की कामना से पहले तप और दीक्षा की उपासना की। तब राष्ट्र और बल का जन्म हुआ; तब देवों ने उस राष्ट्र को प्रणाम किया।' यह तप किस प्रकार किया जा सकता है। यह तप

ज्ञानमय होगा। ज्ञानमय तप ही हिंदी-पत्रकार या सम्पादक के लिये है? अध्ययन — निरन्तर अध्ययन—अपनी बुद्धि के उत्कर्ष से प्राचीन संस्कृति का अनुशीलन और फिर अर्वाचीन जगत् के लिये उसका प्रकाशन और प्रकटीकरण—यही ज्ञानमय तप हिंदी-पत्रकार के लिये है। राष्ट्र क्या है? धर्म क्या है? राष्ट्र और धर्म का क्या सम्बन्ध है? व्यास के राष्ट्रीय धर्म एवं मनु के और कौटिल्य के धर्म का ऐहलौकिक अभ्युदय से क्या सम्बन्ध है? राष्ट्र में बसने वाले जन का क्या स्वरूप है? मातृभूमि का स्वरूप, उसके भूगोल का परिचय, उसके साथ जन की घनिष्ठ एकता, 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' का अर्थ इस प्रकार के अनेक विषयों पर हिंदी-पत्रकार का ज्ञान होना चाहिए। यह पृथिवी भूत और भविष्य दोनों की अधिष्ठात्री है। अतएव जो कुछ भूतकाल का वरदान है वह भविष्य के काम का कहाँ तक हो सकता है—इस दृष्टि से हमें सन्तत विचार करने की आवश्यकता है। भूतकाल की शक्तियों को भविष्य में विकसित करके राष्ट्र-निर्माण के लिये उन्हें कितना शक्तिशाली बनाया जा सकता है—इसका अनुभव या विचार हिंदी-सम्पादकों को होना चाहिए। मेरी दृष्टि में व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि राष्ट्र के उत्तमोत्तम मस्तिष्कों का सुन्दर ज्ञान हमारे पत्रकारों को होना चाहिए। जितना सशक्त चिन्तन देश में पहले हुआ है उससे परिचित हुए बिना हमारी लेखनी में तेज नहीं आ सकता। हिंदी का क्षेत्र विशाल हो रहा है। हिंदी को अपने ही देश में अन्य भाषाओं और प्रान्तों के साथ अपना सम्बन्ध विकसित करना है, और विदेशों के साथ भी अन्तरंग परिचय प्राप्त करना है। मैं इस दृष्टिकोण को प्राचीन अथर्ववेदीय सांस्कृतिक परिभाषा में 'चातुर्दिश' दृष्टिकोण कहूँगा। नालन्दा महा-विहार के भिक्षु इस 'चातुर्दिक्' दृष्टिकोण की उपासना करते थे। सुवर्ण-द्वीप, सुमात्रा और यवद्वीप तक उनकी चक्षुष्मत्ता का विस्तार था। आज हिंदी के चक्षुष्मान् सम्पादकों को पुनः 'चातुर्दिश' दृष्टिकोण को

अपनाने की आवश्यकता है। तभी हिंदी अपनी ऊँची आसन्दी पर प्रतिष्ठित होकर कह सकेगी—

वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः 'मैं बराबरी वालों में इस प्रकार बढ़कर हूँ जैसे उगने वालों में सूर्य।'

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। 'मैं भूमि पर सबसे उत्तर हूँ।' इस आदर्श के लिये हिंदी-पत्रकारों को उद्योग करना आवश्यक है। हिंदी-पत्रकार शिक्षा-प्रतिष्ठान की स्थापना एक अच्छा कार्य है। उसके द्वारा बहुत कुछ प्रगति सही दिशा में हो सकती है।

कुछ काल तक अंग्रेजी पत्रकारों से हमें अपना मार्ग सीखना भी पड़ेगा। पर वह शिक्षा प्राणवन्त व्यक्तियों के अपने विकास के लिये रस ग्रहण करने के समान होगी। उससे हमारी चेतना और कर्मण्यता की वृद्धि ही होगी। अतएव उसमें मुझे कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती। हाँ, उस रस-पोषण में वास्तविक मूल हमारी अपनी ही आत्मा है, जिसे हम एक क्षण के लिये भी नहीं भूल सकते।

: १६ :

हमारी उपेक्षा का एक नमूना

हिन्दी पत्रों के मानस किसी बोझ से कातर जान पड़ते हैं। उन्हें हिमालय की तरह भारी-भरकम विषयों की चिन्ता रहती है, विदेशों के समाचार भारतीय जनता को परोसने के लिये, वहां के नट-नटी तक की बात छापने के लिये वे छटपटाते रहते हैं। पर गरिष्ठ पारस को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपनी ही जनता के लिये आवश्यक हल के स्वास्थ्यकारी समाचारों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। पैरों के नीचे जो हरियाली दूब जीवन-रस से लहलहा रही है उसकी भी तो कुशल-वार्ता पूछनी चाहिए, किसान के नंगे पैरों को स्पर्श करने का सौभाग्य तो उसीको मिला है। क्यों नहीं हमारे पत्र किसान-जीवन के भीतर पैठ कर उसकी चर्चा उठाते? क्यों नहीं उनके स्तम्भों में हमारे देहाती आमोद-प्रमोद की बातें छापी जातीं? क्यों नहीं वे अपने घरों में ही रात-दिन बीतने वाले जीवन को सँवारने के लिये आतुर होते? 'लखनऊ से···' पत्र निकल रहा है। उसके कन्धों पर सारे विश्व के समाचार देने का ऐसा भारी बोझ लद गया है कि उसे अभी तक अपने नगर के जीवन पर एक विशेषांक प्रकाशित करने या साप्ताहिक संस्करण के रूप में केवल अपने नगर की ही चर्चा उठाने का अवकाश नहीं मिला। यहां कितने उद्यान, उपवन, आरामवाटिकाएं हैं? पहले उनके प्रति नागरिकों का क्या भाव था? अब क्या भाव है? कौन उनके प्रबन्ध का उत्तरदायी है? उनकी हरी दूब के प्रति इतना उपेक्षा भाव क्यों है? वहां के पुष्प किसके दोष से अपना श्वेत हास खो बैठे हैं? वहाँ के फौव्वारों में कब से जल का स्पर्श नहीं हुआ है? इन प्रश्नों के प्रति और नागरिक जीवन से संबंधित इनके एकसौ एक बांधव प्रश्नों की ओर हमें सचेत करने वाला कौन है? '···'पत्र का नाम आगया है,

इसलिये लिख देता हूँ। उसके सुविशाल कार्यालय से पचास गज पर ही सामने एक सुन्दर फौव्वारा किसी कला-भावुक नगर-प्रतिनिधि ने केसर बाग की चौक की शोभा के लिये कभी बनवा दिया होगा। दिन भर में चालीस-पचास हजार व्यक्ति उसकी परिक्रमा के पथ को छूते हुए निकल जाते हैं। पर हाय, आज कई वर्षों से उस फौव्वारे ने जल की बूँद के भी दर्शन नहीं किए। वह खड़ा है जीवन के शुष्क दुर्भिक्ष का अभिशाप लिए। किस अपराधी को वह इसके लिये दंडित करे? वह मूक है, पर उसकी मौनभाषा का तीक्ष्ण स्वर हमारी सार्वजनिक जड़ता को पुकार कर कह रहा है। चाहिए तो यह था कि उसमें सूरज की धूप में हँसने वाले कुछ लाल-पीले-सफेद कमल खिलते होते और नागरिकों के खिलखिलाते हुए बच्चों के समान उन कमलों को फव्वारे के उछलते हुए जल के निर्मल छींटे स्नान कराते। पर ज्ञात होता है कि कलहंसों से मुखरित और नील-पीत कह्वारों से सुशोभित वापियों की कल्पना करने वाले भारतीय मानवों का युग चला गया और उनके नए वंशजों ने अभी तक जन्म नहीं लिया। जीवन में चारों ओर कला का अभाव है। भय है कि कलामय जीवन की सुधि यदि समय रहते न ली गई तो हम सबको जीवन की कुरूपता ग्रस लेगी। सुरूप जीवन ही तो मानव का सबसे बड़ा लाभ है; हिन्दी पत्रों की यही बड़ी भारी राष्ट्रीय सेवा समझी जाएगी कि वे समय पर अपने जनसमूह को सुरूप जीवन के प्रति सचेत कर दें और प्रति सप्ताह के संस्करणों में इसको अलख जगाते रहें। यदि हमारे मतिमान संपादकों ने अपने इस कर्तव्य को भली-भांति समझकर इसके लिये उद्योग की गांठ बांध ली तो न केवल '......'पत्र के पड़ोसी फव्वारे को ही सहानुभूति के चार अक्षर मिल जाएंगे, वरन् उसके सैकड़ों सकुटुम्बियों का दुखड़ा भी लखनऊ के नागरिकों के ध्यान में आ-जाएगा और एक लखनऊ क्या, भारत के सारे गाँव और शहरों के नगरोद्यानों में फूलने वाले पुष्प नए जीवन का आशीर्वाद पाकर खिलने

लगेंगे एवं उनकी भूमि दूब और दूधी की हरी बानात से सज उठेगी। उस सजीवता और खिलखिलाहट में अपनी ही स्वस्थ संस्कृति और सुरूप जीवन की झाँकी हम देखेंगे। ईश्वर करे, हिन्दी पत्रों के नागरिक कर्तव्यों की यह डोंडी शीघ्र बजे।

: १७ :

सम्पादक की आसन्दी

प्राचीन व्यासगद्दियों का नवावतार सम्पादकों की आसन्दी में हुआ है। ज्ञान के गूढ़ अर्थों का लोकहित के लिये जन-समुदाय में वितरण करने वाले प्राचीन व्यासों का उत्तराधिकार अर्वाचीन सम्पादकों के हिस्से में आया है। व्यासों ने वेदों की समाधिभाषा का विस्तार और व्याख्यान करके उस सरस्वती को लोक के कंठ तक पहुँचाया। आज विवेकशील सम्पादकों को भी नये भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान के लिये कार्य सम्पन्न करना है। लोक-जीवन के बहुमुखी पक्षों का अध्ययन करके उसके लिये जो कुछ भी मूल्यवान्, सर्वभूत हितकारी और कल्याणप्रद हो सकता है उसे लोक के दृष्टिपथ में लाने का कार्य सम्पादकों का ही है। सम्पादक की दृष्टि अपनी मातृभूमि के भौतिक रूप को गरुड़ की चक्षुष्मत्ता से देखती है। भूमि पर जो भी जन्म लेकर बढ़ता है उस सबके प्रति सम्पादक को प्रेम और रुचि होनी चाहिए। पृथिवी के हिमगिरि और नदियाँ सस्यसम्पत्ति और वृक्षवनस्पति, मणि हिरण्य और खनिज द्रव्य, पशु-पक्षी एवं जलचर, आकाश में संचित होनेवाले मेघ और अन्तरिक्ष में बहने वाले वायु, समुद्र के अगाध जल में संचार करने वाले मुक्ता शुक्ति और तिमिंगिल मत्स्य—सब राष्ट्र के जीवन का अभिन्न अङ्ग हैं और सबके विषय में ही सम्पादक को लोक-शिक्षण का कार्य करना चाहिए। समुद्र की तलहटी में सोई हुई सीपियाँ अपनी मुक्ताराशि से राष्ट्र की नवयुवतियों के शरीर को सजाती हैं, अतएव उनके हित के साथ भी हमारे मंगल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जागरूक राष्ट्र के सम्पादक को उनके विषय में भी सावधान और दत्तरुचि होने की आवश्यकता है। प्रवाल और मुक्ताओं का कुशल-प्रश्न पूछे बिना राष्ट्र समृद्ध कैसे कहा जा सकता है? जिन

समाचार-पत्रों के स्तम्भों में पृथिवी से सम्बन्धित सब पदार्थों के लिये स्वागत का भाव है वे ही लोक की सच्ची शिक्षा का कार्य कर सकते हैं।

सच्चे सम्पादक को अपने पैरों के नीचे की भूमि के प्रति सबसे पहले सचेत होना चाहिए। अपने घर, गाँव, नगर, प्रान्त और देश के जीवन के रोम-प्रतिरोम को झकझोरना हमारा पहला कर्त्तव्य हो। 'घर खीर तो बाहर भी खीर', घर में एकादशी तो बाहर भी सूना। अतएव विदेशों के समाचार और जीवन के प्रति सतर्क रहते हुए भी हमें निज घर के प्रति उदासीन नहीं हो जाना चाहिए। आज मातृभाषाओं के अनेक पत्रों को घरेलू समाचार और जीवन की व्याख्या के लिये एक नए प्रकार की कर्मठ दीक्षा ग्रहण करनी है।

सम्पादक की आसन्दी शंकर के कैलास की तरह ऊँची प्रतिष्ठा का बिन्दु है। वहाँ से सत्य और ज्ञान की धाराओं का निरन्तर लोक में प्रवाह होना चाहिए। जागा हुआ सम्पादक लोक में नये अलख जगाने का सूत्रपात करता रहता है, कारण कि और लोग जहाँ सोते रहते हैं उन विषयों में भी सम्पादक जागता रहता है और अपने जागरण के द्वारा लोक के मस्तिष्क को भूली हुई बातों के प्रति जाग्रत् करता है। व्याख्या, सतत् व्याख्या सम्पादक का स्वभावसिद्ध धर्म है। घनीभूत ज्ञान को ता कर और विस्तृत बनाकर लोक में फैला देना सम्पादक का कर्तव्य है।

सम्पादक की आसन्दी अभय, सत्य, ज्ञान और कर्म के चार पायों पर खड़ी है। व्यक्ति और समाज, देश और विदेश उस आसन्दी के आड़े-तिरछे डंडे हैं। लोक की सेवा उसके बैठने का ताना-बाना है। नया उन्मेष, नई कल्पना, स्फूर्ति और उत्साह—ये उस आसन पर आराम से बैठने के लिये गुदगुदे वस्त्र हैं। जन-संवेदना या सहानुभूति और न्याय-बुद्धि, ये सम्पादक की भव्य आसन्दी के अलंकार हैं। इस आसन्दी पर राष्ट्र या भौम ब्रह्म की सेवा के लिये सम्पादक का अभिषेक किया जाता है। राजा और प्रजा दोनों की भावनाएँ सम्पादक की आसन्दी में मिली हैं। जब कुशल सम्पादक इस प्रकार की आसन्दी पर बैठता है तब

राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र के विस्तार और रूप-सम्पादन के नए अंकुर खिलते एवं नए फूल-फल फूलते-फलते हैं। राष्ट्र की रूप-समृद्धि के साथ-साथ सम्पादक का तेज भी लोक में मंडित होता है और चन्द्र-सूर्य की भाँति दिग्दिगन्त में व्याप जाता है। जिस सम्पादक के तप और श्रम से राष्ट्र का जन्म और संवर्धन हुआ, वही सच्चा सफल सम्पादक है। उसे ही प्रजाएँ चाहती हैं और श्रुतियों का यह आशीर्वाद उसीमें चरितार्थ होता है:—

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।

: १८ :

ग्रामीण लेखक

(पं० वनारसीदास चतुर्वेदी के नाम एक पत्र)

प्रिय श्री चतुर्वेदीजी,

लखनऊ.
६—११-–४३
(रेल-यात्रा में, बालामऊ)

२२–१०–४३ के पत्र के साथ आपने जो 'ग्रामीण लेखकों की समस्या' शीर्षक लेख भेजा है उसे मैंने पढ़ा। श्री चन्द्रभानुजी ने एक आवश्यक विषय की ओर ध्यान दिलाया है। गांव के साहित्य-सेवियों को ग्रामीण न कह कर प्रारम्भ ही में मैं उन्हें जनपदीय लेखक या जानपद लेखक कहना पसन्द करूँगा। अशोक ने अपने शिलालेख में गांव की जनता को ग्रामीण न कह कर 'जानपद जन' का प्रतिष्ठित नाम दिया है। इसपर आपको एक लेख भेज चुका हूं। जनपदों में रहने वाले जो लेखक साहित्य में रुचि रखते हैं, उनके विषय में हमें उदारता से सोचना चाहिए। लेखक गांव में बैठकर लिखे या शहर में, दोनों में वन्धुत्व का नाता है। इस सख्य-भाव से कभी-कभी एक लेखक दूसरे की सहायता से बहुत उन्नति कर सकता है। जैसे हम व्यावहारिक जीवन में अपने काम साधने के लिये समान रुचि वाले मित्रों को ढूँढ़ लेते हैं, वैसे ही ज्ञान के क्षेत्र में समान-शील सखाओं को प्राप्त करना और भी आवश्यक है। इस प्रकार के सम्पर्क के लिये हर एक लेखक को सचाई के साथ प्रयत्न करना चाहिए। सचाई का वर्ताव बहुत आवश्यक है। यदि लेखक इस विषय में अनधिकारपूर्वक क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसे इस प्रकार के सख्यभाव या सम्पर्क प्राप्त करने में न केवल असफलता होगी बल्कि निराश भी होना पड़ेगा। आप यदि स्वयं कुछ मेहनत नहीं

करते तो केवल ऊँचे सम्पर्क से भी कुछ न होगा । इसलिये हर एक लेखक को स्वयं साधना करने की जरूरत है, चाहे वह गांव में हो चाहे शहर में। आप अपने प्रति सच्चे हैं तो अपनी रुचि के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ परिश्रम करिए। श्रमशील लेखक ही कुछ प्राप्त कर सकता है । अपने जनपदीय साहित्य बन्धुओं से कहिए कि वे अपने प्रति सम्मान का भाव रख कर अपने कार्य में श्रद्धालु होकर खूब परिश्रम करें। एक दिन में किसीको सिद्धि नहीं मिलती, अतएव निरंतर मांजने से ही ज्ञान की मणि चमक सकती है।

जिस मानसिक स्थिति में गांव या शहर का भी कोई लेखक हो, उसमें उन्नति करने के लिये किसी ऊँचे मस्तिष्क के साथ टक्कर की आवश्यकता को मैं मानता हूं। जब दो मस्तिष्क टकराते हैं तो उनसे स्फूर्ति और चिनगारी पैदा होती है। जब दो जातियों में ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण टक्कर लगती है, तब संस्कृति की नई धारा वेग से फूट पड़ती है। जाति में नए विचार, नई प्रेरणा ऐसे वेग से दौड़ती है जैसे इन्द्र के वज्र ने पर्वतों के कपाटों को फोड़ कर रुके हुए जलों की नदियां छोड़ दी हों। अतएव हर एक उदयशील लेखक को यह इच्छा रखनी चाहिए कि वह अपने लिये अवसरों की तलाश में रहे और उनसे लाभ उठावे।

जनपदीय बन्धुओं के लिये एक उपयोगी सुझाव यह भी है कि वे अपने-अपने जनपद में ही अपने से श्रेष्ठ लेखक या साहित्यसेवी को ढूँढ़कर और आपस में मिलकर विचार करने की प्रथा को प्रचलित करें। हर एक जिले में भी तो सब लेखक एक-से नहीं होते । उनमें भी छोटे बड़े की बहुत सी कोटियां हैं। जनपदों में रहने से ही कोई लेखक हीन नहीं हो जाता और न इसी कारण उसे शहरी लेखक की शरण के लिये अधीर होना चाहिए। खूब देखभाल कर अपने क्षेत्र के लेखकों से परिचय बढ़ाइए, जो आपको अपने से अच्छे जान पड़ें उनसे साहित्यिक मित्रता का नाता जोड़िए और उस नाते को प्रेम और उमंग के साथ सींचते

चाहिए। महीने में एक बार, ६ महीने में एक बार या साल में एक बार परस्पर मिलने के लिये सम्मेलन, गोष्ठी, समाज या मेले करने की प्रथा का आरम्भ हो जाना चाहिए। इन मेलों में सादगी हो, दिखावा या आडम्बर न किया जाय। कुछ-न-कुछ काम की बात हर एक लेखक लेकर आवे और आपस में विचार करके लाभ उठावे। इसी साहित्यिक मिलन या यात्रा को जब सुविधा या अवसर हो आप अपने क्षेत्र से बाहर जाकर भी पूरा कर सकते हैं।

जनपदीय लेखक को काम करने की निश्चित दिशा तय कर लेनी चाहिए। जानपद-साहित्य का काम बहुत बड़ा है। उत्साहवश हम सारे क्षेत्र पर अधिकार कर लेना चाहते हैं और जो काम अपने वश का नहीं है उसमें भी हाथ डाल देते हैं। अपनी शक्ति को तौल कर, मित्रों से सलाह लेकर काम करने की ठीक दिशा का निर्णय कर लीजिए और धीरे-धीरे उस रास्ते पर चलिए। एक काम को हाथ में लेकर जब उसमें कुछ सफलता आप पा लेते हैं तो आपको मानों अपने परिश्रम का फल मिल जाता है। और उससे आपको प्रसन्नता होती है, स्वयं अपने ऊपर विश्वास जम जाता है। इसी तरह गांव के लेखक आगे बढ़ सकते हैं।

जैसे-जैसे आप काम करते जाते हैं उसको परीक्षित करा लेना भी आवश्यक है। जिन लेखकों से आपने सम्पर्क प्राप्त किया है, उनसे कभी मिलकर यह जान लेना चाहिए कि किए हुए काम में फीसदी कितना सही है, कितनी कमी है, किस तरह उसका सुधार किया जाय। यदि सच्ची नीयत से ऐसा किया जायगा तो अवश्य ही सच्ची सलाह मिल सकेगी। परन्तु यह आवश्यक है कि केवल मन बहलाव के लिये किसी का या अपना समय आप नष्ट न करें। कैसा भी सहृदय कोई साहित्य-सेवी हो उसकी शक्ति और समय तथा साधन परिमित हैं। इसका ध्यान हर लेखक को रखना आवश्यक है।

यदि गांव के लेखक स्वयं परिश्रम करने में मन लगाएंगे, यदि वे

आसपास विद्वानों को ढूँढ़कर उनसे मिलेंगे, यदि वे अपनी भूमि के साथ सम्बन्ध बढ़ाएंगे, तो उनके मानसिक भोजन का पचास प्रतिशत तो अवश्य मिलने लगेगा। भूमि के साथ सम्बन्ध, यह एक अर्थगर्भित सूत्र है। भगवान् ने ही पृथिवी में उत्पादन की अनन्त शक्ति भर दी है। हर साल कितने वृक्ष, वनस्पति, लताओं को इस मही माता से जन्म मिलता है! कितने अनन्त सस्यों की यह धात्री है! इसकी उर्वरा शक्ति का उस साहित्यिक पर भी प्रभाव पड़ेगा, जो इसके सम्पर्क से अपने मनोभावों को अनुप्राणित करना चाहेगा।

कालसी
१८—११—४३

गांव के लेखकों को अपने चारों ओर की प्रकृति से, पृथिवी से, जनता से और उसकी संस्कृति से विषयों को चुनना चाहिए। नए-नए विषयों को सोचने और उनपर सामग्री का संकलन करने की आँख उत्पन्न करनी चाहिए। लेखों का मसाला कहाँ से और कैसे इकट्ठा किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जनपद लेखक के लिये अपना जनपदीय क्षेत्र ही बड़ी भारी खान है। उसीमें से उसे उन रत्नों को लेना चाहिए, जो आजकल आँख से बचे हुए पड़े हैं। मेरठ के एक गांव में बैठकर वहां की गाय और भैंसों के विषय में पचास से अधिक शब्द मैं प्राप्त कर सका। उनमें कुछ ऐसे थे जिनकी परम्परा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से निरुक्तकार यास्क के समय तक जाती है।

अभी जौंसार इलाके की यात्रा में लाखामण्डल गांव के एक अनपढ़ परमा नामक बढ़ई से लकड़ी पर नक्काशी के पचास शब्द इकट्ठे किए जा सके जिनमें काफी मसाला पुराना है। किवाड़ों में लगे हुए पीतल के छल्ले के लिये, कंकण और उसके बीच की गोल पतरी के लिये 'चन्दक' शब्द मुझे परमा की कृपा से ही प्राप्त हुए। किसी कोष में भी ढूँढ़ कर इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इनकी प्रयोग-

शाला तो जनपद की जीतीजागती परम्परा ही है। यदि आप श्रद्धावान् हैं तो अवश्य ही दिन-प्रति-दिन आपकी झोली भरती जाएगी।

यों तो साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल है, पर किसी भी भाषा के निखिल वाङ्मय के तीन विभाग किए जा सकते हैं। प्रत्येक लेखक इन्हें ध्यान में रखकर अपने-अपने विषयों और कार्य-क्षेत्र का वर्गीकरण कर सकता है। ये तीन विभाग मौलिक हैं और प्रत्येक जाति की सभ्यता में पाए जाते हैं। संक्षेप में उनका सूत्र यह है—पृथिवी, जन, ज्ञान अर्थात्:—

(१) पृथिवी और उसका भौतिक रूप।

(२) पृथिवी पर बसने वाला जन-समुदाय, मनुष्यों की नस्ल।

(३) उस जन का मानसिक चिंतन, अथवा ज्ञान-सृष्टि।

साहित्यरूपी विष्णु के इन्हीं तीनों चरणों में समस्त वाङ्मय विस्तार समाया हुआ होता है। हम भी इनमें से कहीं-न-कहीं काम करते हुए होंगे।

पहले पृथिवी का भौतिक रूप हमारे सामने फैला है। मिट्टी, जल, वायु, लता, वृक्ष, वनस्पति, पशु, खनिज आदि सैकड़ों विषयों का अध्ययन पृथिवी का अध्ययन है। आपके यहाँ वर्ष भर में कितनी तरह की हवाएं चलती हैं, किस महीने में कौन-सी हवा आती है; मौसम और खेती-बाड़ी पर उसका क्या असर होता है, महुए के चूने और आम के पकने के लिये कौन-सी हवा चाहिए, कौन-सी हवा गेहूं के दूध-भरे दानों को पिची कर डालती है इत्यादि विषयों का मंथन आप गाँव में ही आँख खोल कर कर सकते हैं। ये उदाहरणमात्र हैं। एक वार मंगल द्वार से जब आप जनपद के संसार में प्रवेश करेंगे आपके लिये धनपति कुबेर का अमित भण्डार खुला हुआ मिलेगा।

पृथिवी पर बसने वाले जो मनुष्य हैं उनका अध्ययन साहित्य का दूसरा विभाग है। उन्हें हम वैज्ञानिक भाषा में 'जन' कह सकते हैं।

जन की संस्कृति, रहन-सहन, वस्त्र-भूषा, नृत्य-गीत, काम करने के औजार, पेशे, उद्योग-धंधे, एक-एक अंग साहित्यरूपी अन्न का कोठार ही समझना चाहिए। भाषा में पेशेवर लोगों के सूचक कितने शब्द हैं, इसीकी सूची बड़ी रोचक बन सकती है। मैं इस समय इसका विस्तार नहीं करूँगा।

हमारे जन ने जो मानसी सृष्टि की है, ज्ञान के क्षेत्र में, नीति, धर्म, साहित्य और आचार के जगत् में जो अपना विकास किया है वह साहित्य का तीसरा विभाग है। हमारी रुचि हो तो हम उसके किसी अंग का अध्ययन कर सकते हैं।

प्राचीन परिभाषा में कहें तो पृथिवी के भौतिक रूप के अध्ययन को देवऋण, पृथिवी पर बसने वाले अध्ययन को पितृऋण और जन की ज्ञान-साधना के अध्ययन को ऋषि-ऋण कह सकते हैं। इन तीनों ऋणों का उद्धार ही साहित्यिक का उद्देश्य होना चाहिए।

: १६ :

कैलास-मानस-यात्रा

कैलास और मानसरोवर के पुण्य प्रदेश जगतीतल में अपनी रमणीयता के लिये अद्वितीय हैं। उनके अनुपम सौन्दर्य्य के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करना हमारे ऊपर मानो एक राष्ट्रीय ऋण है। हमारे पूर्वजों ने अपने इस कर्तव्य को ठीक प्रकार समझा था। उन्होंने अपने चरणों के तप से इन स्थानों की यात्रा की, अपनी वाणी की विभूति को इनके माहात्म्य-गान से सफल किया और अपने उदार भावों से सोने और चाँदी के रंग-बिरंगे रूप भरकर इन हिममंडित प्रदेशों को अमर सौन्दर्य के दिव्य प्रतीकों की भाँति हमारे साहित्य में चिर-प्रतिष्ठित किया। कैलास-मानसरोवर के साथ हमारा सौहार्द भाव आज का नहीं, बहुत पुराना है। किसी देवयुग में जब गंगा-यमुना ने अपने कर्मठ ताने-बाने से मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर पट उत्तरापथ की भूमि में फैलाने शुरू किए और जब प्रथम बार अन्तर्वेदी के राजहंस अपनी वार्षिक यात्रा के सिलसिले में आकाश में पंख फैलाए हुए मानसरोवर के तट पर जाकर उतरे, तभी से मानो कैलास के साथ हमारा सख्यभाव शुरू हुआ, और वह सम्बन्ध आजतक उसी प्रकार अविचल है। हमारे शरत्कालीन निर्मल आकाश की गोद को प्रतिवर्ष क्रौञ्च पक्षियों की कलरव करती हुई पंक्तियाँ आज भी भरती रहती हैं। उस समय वे कैलास और मानसरोवर का कुशल संदेश लेकर लौटती हैं। हमने अपने बचपन से उनको देखा है और बालपन के तरंगित स्वरों से उनका सहर्ष स्वागत भी किया है। व्योम के उन यात्रियों का हमें उपकार मानना चाहिए जो कैलास-मानस की स्मृति को हमारे लिये हरी-भरी रखते हैं।

इसी प्रकार की कृतज्ञता प्रस्तुत यात्राग्रंथ[1] के लेखक के प्रति हमारे मन में आती है। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार यात्रा के दो प्रकार होते हैं, एक शुक-मार्ग और दूसरा पिपीलिका-मार्ग। शुकादि पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थान तक उड़कर पहुँच जाते हैं, पर अपने पीछे वे कोई पद-चिन्ह नहीं छोड़ते। परन्तु चींटी एक-एक पैर उठाती हुई श्रमपूर्वक मार्ग को तय करती है, और उसकी पूरी पगडंडी स्पष्ट हमारे सामने दिखाई पड़ती है। यों तो अनेक भारतवासी हर साल हिमालय के दुर्गम पथों को पार करके कैलास-मानसरोवर के दर्शनों को जाते हैं, परन्तु स्वामी प्रणवानंद का कैलास-दर्शन एक स्तुत्य घटना है। उसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी कैलास-यात्रा की पिपीलिका-गति हमारे सामने स्पष्ट मूर्तिमाती करने का एक सुंदर और सराहनीय प्रयत्न किया है। कैलास मानसरोवर के दर्शन से उनको जो स्फूर्ति प्राप्त हुई और उनके मन तथा नेत्रों को जो स्वर्गीय सुख पहुँचा, उसमें उन्होंने सबको हिस्सा दिया है। वे अपने प्रसाद में सबको सम्मिलित करने के उत्साह से प्रेरित हुए हैं। कैलास-यात्रा पर इतनी पूर्ण और प्रशस्त पथ-प्रदर्शक पुस्तक शायद ही किसी भाषा में अबतक लिखी गई हो। पुस्तक की तीसरी और चौथी तरंगों को पढ़ने के बाद कैलास के दुरूह मार्ग की अनेक कठिनाइयाँ पिघलती हुई जान पड़ेंगी। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते भावी यात्रा के लिये हमारे मन में एक नया उत्साह और संकल्प उत्पन्न होने लगता है।

पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि उससे कैलास और मानसरोवर के जीवन का एक जीता-जागता चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। पहली तरंग में मानसरोवर की जो काव्यमय प्रशस्ति है उसे पढ़कर बाणभट्ट के अच्छोद सरोवर के वर्णन का ध्यान हो आता है। स्वामीजी

---

[1] स्वामी प्रणवानन्दकृत कैलास-मानसरोवर की यात्रा। इस पुस्तक की भूमिका रूप में यह लेख लिखा गया था।

ने कैलास मानसरोवर में १९३६-३७ में एक वर्ष तक रहकर स्वयं वहाँ के प्राकृतिक परिवर्तनों का, कैलास के कुंद के समान श्वेतवर्ण महाकूटों का तथा विपुलोदका मानस की हिमराशि का सूक्ष्म निरीक्षण किया और वैज्ञानिक पद्धति से उसका वर्णन किया है। दूसरी तरंग में उन्होंने देश के मानवों के जीवन का परिचय दिया है। हमारे प्राचीन साहित्य में पहले हृष्ट-पुष्ट नर-नारियों से आकुल शैलराज की कुक्षियों का कई बार वर्णन आया है। इस परिचय को नई आँख से देखने का एक प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

स्वामी प्रणवानंद ने १९२८ में प्रथम बार कैलास-मानस की यात्रा की थी। अबतक आपने पुनीत कैलास की पन्द्रह और मानसरोवर की सत्रह परिक्रमाएँ की हैं। इन परिक्रमाओं में हमारा कुतूहल इस विशेष कारण से है कि हर बार स्वामीजी ने कैलास और मानस के भूखण्ड को एक वैज्ञानिक आँख से समझने का मार्ग हमारे लिये प्रशस्त किया। कैलास और मानस का जो ऊँचा कूट है उसके चार तटांतों में चार महानदियों का उद्गम हुआ है। उत्तर में सिंधु, पूर्व में ब्रह्मपुत्र, दक्षिण में कर्णाली और पश्चिम में शतद्रु या सतलज। इन चार महानदों की जीवन-गाथा का उद्घाटन संसार के भूगोलवेत्ताओं का एक अत्यंत प्रिय विषय रहा है। इनके उद्गम स्रोत का निर्णय करने का प्रयत्न सर्वप्रथम स्वीडन के प्रसिद्ध यात्री स्वेन हेडिन ने किया था और अबतक उन्हींकी खोज मान्य समझी जाती रही है। स्वामीजी ने अपने अन्वेषण से इन नदी-मुखों के असली उद्गमों का निर्णय करके एक अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किया है। आपकी खोज को सर्वे आफ इण्डिया कलकत्ता तथा लंदन की राजकीय भूगोल-परिषद् ने भी आदर के योग्य ठहराकर तत्सम्बन्धी प्रकाशन की सुविधाएँ प्रदान कीं। उनका संकेत रूप से उल्लेख इस पुस्तक में (पृष्ठ ५०-५४) भी हुआ है, पर विस्तृत वर्णन कलकत्ता-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'एक्सप्लोरेशन इन टिबेट' नामक ग्रंथ में हुआ है। उसके साथ जो सर्वे आफ इण्डिया द्वारा प्रका-

शित केदार-खंड और मानस-खंड का एक सुंदर मानचित्र है, वह किसी भी यात्रा-ग्रन्थ के लिये एक गौरव की वस्तु हो सकती है। स्वामीजी ने उसको बनाकर हिमालय के साथ हमारे परिचय को कई कदम आगे बढ़ाया है।

लेखक ने एक स्थान पर लिखा है—'आज से सहस्रों वर्ष पहले हमारे पूर्वजों ने सारे हिमालय का अन्वेषण कर डाला था। वे उसके कोने-कोने पर पहुँच चुके थे।' (पृष्ठ ५६) इस वाक्य में जो बात पहले अतिशयोक्ति जान पड़ती है, वही संस्कृत-साहित्य की छान-बीन करने पर बदल जाती है। हिमालय की त्रैकालिक सत्ता हमारी आँख से कभी ओझल न होने पावे इसलिये मानो कवि ने कुमारसम्भव के दिव्य संगीत का प्रारंभ इस प्रतिज्ञा के साथ किया है—

> अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
> पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

अर्थात्, हमारी उत्तर दिशा में पर्वतराज हिमालय विद्यमान है। वह मिट्टी-पानी और पत्थरों का ऊँचा ढेर नहीं, वरन् देवतात्मा है, अर्थात्, देवत्व के अमर भावों से संयुक्त है। वह हिमालय पूर्व और पश्चिम के समुद्रों के बीच के भूभाग को व्याप्त करके पृथिवी के मानदण्ड की तरह स्थित है।

इसीके साथ कवि ने हिमालय की एक काव्यमयी प्रशस्ति दी है जिसमें भारतवर्ष का हिमालय के प्रति जो सात्विक भाव है उसको सुंदरतम शब्दों में कहा गया है। अनन्त रत्नों के प्रभव-स्थान हिमालय पर सुंदरता और शोभा की विविध सामग्री है। कहीं शिखरों पर रंग-बिरंगी धातुओं का प्रवाह है, कहीं सनातनी हिमराशि है, कहीं चोटियों पर ऊपर धूप और नीचे मेघों की छाया है, कहीं तुषार-स्रुति या बर्फानी गल हैं, कहीं भूर्जपत्रों की शोभा है, कहीं देवदारु के वृक्षों की सुगन्धि वायु के द्वारा पर्वतों में फैलती है, कहीं चमकने वाली ओषधियाँ और

कहीं दरी-गृह या कंदराओं के प्राकृतिक भूमि-गृह (भुँइहरे) बने हुए हैं, कहीं मार्ग शिलीभूत हिम से अवरुद्ध हैं, कहीं अंधकार से भरी हुई गुफाएँ हैं, कहीं पर सुरभि या चमरी गाएँ अपनी पूँछ का चमर डुलाकर गिरि-राज के ऐश्वर्य्य की वृद्धि करती हैं, कहीं पर भागीरथी के निर्झरों से शीतल-मंद-सुगंध वायु बहती है, और कहीं पर्वत की चोटियों के पास खिले हुए कमलों से भरे हुए सरोवर हैं। यह हिमालय बड़ा सारयुक्त है। यह सचमुच धरणीधर है, पृथिवी को दृढ़ता से अपने स्थान में टिका हुई रखने की इसकी क्षमता को देखते हुए कहना पड़ता है कि ब्रह्मा ने उपयुक्त ही इसको शैलाधिपति की पदवी से विभूषित किया है। (कुमारसम्भव १।१–१७)

हिमालय का फैला हुआ गिरिजाल, सहस्रों शैलों को दारण करके बहने वाली महानदियाँ, चित्र-प्रपात, पुण्योदक सरोवर, निकुंज और कन्दरदरी, पुष्पश्री से भरे हुए क्रीड़ावन और लता-द्रुमों से शोभित विहार-भूमि—इन सबका सूक्ष्म वर्णन मत्स्य पुराण (अ० ११७), वायु पुराण (अ० ४१-४२), महाभारत (वनपर्व १०८-१०९), तथा पुराणों के भुवन-कोषों में आया है। इस साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए। यदि हिमालय पर एक पूरा ग्रंथ लिखा जाए, तो इन वर्णनों से बहुत-से पारिभाषिक शब्दों का उद्धार किया जा सकता है। परन्तु इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसका सूक्ष्म भूगोल है। इस भौगोलिक ज्ञान का युक्ति-युक्त सचित्र सम्पादन एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है। हिमालय की नदियों के नामकरण का श्रेय भारतवासियों को है। यह बात हमारे लिये कुछ कम गौरव की नहीं है कि हरएक शैल से निकलने वाली क्षुद्र नदियों के, जिन्हें कुमाउँनी भाषा में गवेरे कहते हैं, और उन नदी सहस्रों से अनुगत महानदियों के, जिन्होंने करोड़ों वर्षों के पराक्रम से अपने वेग को रोकने वाले गंडशैलों को चीरकर अपने प्रवाह के लिये मार्ग बनाया है, सुंदर-सुंदर नामों का चुनाव सर्वप्रथम हमारे पूर्वजों ने संस्कृत भाषा के द्वारा किया। मालूम होता

है कि किसी नियमित संघ के अधिवेशनों में उन्होंने इस कार्य को सम्पादित किया होगा। उदाहरण के लिये, गंगा के नामों को ही देखते हैं। चंद्रपूँछ से लेकर नंदादेवी तक गंगा का प्रस्रवण-क्षेत्र फैला है। उसके पूर्व और पश्चिम दो भाग हैं। पूर्व के क्षेत्र में बदरीनाथ की ओर से अवतीर्ण विष्णुगंगा (जिसे सरस्वती भी कहते हैं) और द्रोणगिरि के पश्चिम से धौलीगंगा की धाराएँ जोशीमठ के पास मिली हैं, उस संगम का नाम विष्णु-प्रयाग है। इससे कुछ ही पहले नंदादेवी से आने वाली ऋषिगंगा धौलीगंगा में मिली है। विष्णु-प्रयाग के बाद संयुक्त-धार अलकनंदा कहलाती है। कुछ दूर आगे चलकर उसमें नंदाकना पर्वत से आई हुई नंदाकिनी मिलती है। उस स्थान का नाम नंदप्रयाग है। फिर कुछ आगे नंदाकोट और त्रिशूल शिखरों के जलों को लाकर पिंडरगंगा कर्णप्रयाग के संगम पर अलकनंदा से मिलती है। इसके आगे केदारनाथ की ओर से आकर मंदाकिनी रुद्रप्रयाग के संगम पर अलकनंदा से मिली है। और उसके आगे भागीरथी और अलकनंदा का संगम देवप्रयाग में होता है। अब अपने पूर्ण विकसित रूप में अलकनंदा गंगा बनकर हृषीकेश में होती हुई हरिद्वार में उतरी है, जिसे गंगाद्वार कहा गया है। इस द्वार में प्रवेश करने पर गंगा अपनी हिमालय-यात्रा का मनोरम अध्याय समाप्त करती है, इसीलिये कवि ने मेघ को मार्ग बताते हुए कहा है—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णाम्,

जह्नोः कन्यां सगरतनय स्वर्ग सोपान पंक्तिम्। (मेघ० १।५०)

जह्नु की कन्या जाह्नवी गंगा का एक पर्याय होते हुए भी गंगा की एक उपरली धारा का नाम है। महान् हिमालय की ऊँची चोटियों के उस पार गंगोत्तरी से भागीरथी का उद्गम है। यह जाह्नवी की धारा गंगोत्तरी से कुछ ही मील नीचे भागीरथी में मिली है। पर वह हिमालय के उस पार जंस्कर पर्वत-शृंखला से निकली है जो सतलज और गंगा के बीच में जल-विभाजक है। जाह्नवी का उद्गम टीहरी रियासत का

सबसे ऊपरी छोर है। इस प्रकार अक्षांश के हिसाब से जाह्नवी सबसे उत्तरी धारा है जिसका जल गंगा में मिलता है। अलकनंदा, मंदाकिनी, भागीरथी, जाह्नवी, यद्यपि ये सब गंगा के ही नाम हैं, पर हिमालय में पृथक-पृथक धाराओं के द्योतक हैं। यह नामकरण का अध्याय किस युग में रचा गया और किन कारणों से उसकी प्रेरणा हुई, इन प्रश्नों का अनुसन्धान अत्यन्त रुचिकर होगा जो किसी भावी स्थान-नाम-परिषद् के लिये सुरक्षित है। परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि गंगा की धाराओं के संगम के लिये विष्णुप्रयाग-कर्णप्रयाग-रुद्रप्रयाग-देवप्रयाग सदृश प्रयागों का नामकरण जिसका पर्यवसान गंगा-यमुना के संगम प्रयागराज में होता है, अवश्य ही एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण और रोचक घटना है, जिसमें क्रमिक व्यवस्था की छाप स्पष्ट है। यह तो हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इस प्रकार नदियों और पर्वत-शिखरों की खोज, उनका नामकरण, और उन नामों का देशव्यापी प्रचार—इन महान् कार्यों के सम्पादन में हमारे पूर्वजों को जब इस भूमि के साथ उन्होंने अपने सम्बन्धों को दृढ़ किया था, भरसक प्रयत्न करना पड़ा होगा। इस नामकरण के विषय का पूरा अनुसन्धान होना चाहिए और हिमालय की सम्पूर्ण नदियों का इस दृष्टि से विवेचन करना चाहिए। हिमालय की नदियों का एक दूसरा गुच्छा कूर्माचल (कुमायूँ) और पच्छिमी नेपाल में है। जिस प्रकार गंगा हिमालय के केदारखण्ड को व्याप्त करके बही है उसी प्रकार सरयू-काली-कर्णाली का यह संस्थान-चक्र हिमालय के मानसखण्ड में है, और नंदा-कोट और गुरला-मांधाता के प्रस्रवण क्षेत्र के जलों को लेकर खीरी और गोरखपुर के बीच के मैदानों को सींचता है। मैदान में इसे शारदा, चौका, घाघरा कई नामों से पुकारते हैं। सरयू-काली-गोरीगंगा और धौली-गंगा कूर्माचल की प्रधान नदियाँ हैं। जिस प्रकार विशाला-बदरी के मार्ग की धमनी अलकनन्दा नदी है, उसी प्रकार कैलास-मानसरोवर का अल्मोड़े से जाने वाला मुख्य रास्ता काली नदी के किनारे-किनारे गया है। यही नदी नेपाल और अल्मोड़े के बीच की सीमा है। इसके पूर्व में

करनाली नदी है जिसे कौड़ियाला भी कहते हैं। इस कर्णाली का स्रोत राक्षस-ताल (पुराणों के बिन्दुसरोवर) के दक्षिण में है, जिसकी यात्रा स्वामी प्रणवानंद ने उसका उद्गम-स्थान जानने के लिये की थी। मध्य-नेपाल और पूर्वी नेपाल में दो नदी-गुच्छक और हैं, जिन्हें नेपाली अपनी भाषा में बहुत समय से सतगंडकी और सप्तकोसी (सप्तकौशिकी) के नाम से पुकारते रहे हैं। इन नामों के साथ उसीसे मिलते-जुलते नाम 'सप्त-गंग और सप्तगोदावरं' याद आते हैं। जान पड़ता है कि वैदिक सप्त-सिंधु के ढंग पर इन सब नामों का विकास हुआ था। सतगंडकी और सप्तकोसी के बीच की पतली पटरी वाग्मती और उसकी शाखा विष्णु-मती की घाटी है जिसमें नेपाल की राजधानी काठमाँडू है। कर्णाली, गण्डकी, वाग्मती और कोशी या कौशिकी की सम्मिलित चार द्रोणियों का नाम ही नेपाल है जो हिमालय का एक विशिष्ट खंड है। इसीके साथ उसके सबसे ऊँचे भूधर शृंग, गोसांई थान, गौरीशंकर और कांचनजंगा सटे हुए हैं। गौरीशंकर के भूगोल का उल्लेख वनपर्व के तीर्थ-यात्रा पर्व में आया है। उसमें महादेवी गौरी के शिखर को त्रैलोक्य-विश्रुत कहा गया है, और उस वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में भारतवासी इस ऊँचे शिखर की चढ़ाई करते थे—

शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम्।
समारुह्य नरः श्राद्धः स्तनकुण्डेषु संविशेत्॥

(पूना संस्करण, वनपर्व ८२।१२१)

पुराने मानचित्रों के अनुसार यह गौरीशंकर ही एवरेस्ट शिखर था, पर अब उन दोनों का निर्देश पृथक किया जाता है। इसी प्रसंग में महा-भारतकार ने ताम्रारुण संगम और कौशिकी अरुण संगम का भी उल्लेख किया है (वन० ८२।१२३-१२५) ताम्रनदी आधुनिक तामड़ है और अरुण अब भी इसी नाम से विख्यात है। ताम्र कांचनजंगा से और अरुण गौरीशंकर से उतरकर सुनकोसी के साथ मिल जाती हैं। यह अरुण नदी संसार की सब नदियों में विलक्षण है। स्वीजरलैण्ड के दो

पर्वतारोही हाइम और गंसेर सन् १९३६ में कैलास-मानसरोवर गए थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सेन्ट्रल हिमालय' में लिखा है कि अरुण नदी ने पहाड़ को चीरकर अपने लिये जो द्रोणी बनाई है, वह संसार की सब नदी-घाटियों से गहराई में अधिक है (डीपेस्ट ट्रेन्सवर्स गॉर्ज ऑफ अवर ग्लोब, पृ० १६)। अरुण नदी को अपने इस वीर्यशाली पराक्रम के लिये अवश्य ही हमारे समाज में अधिक ख्याति मिलनी चाहिए। एवरेस्ट चोटी के ऊँचे बिन्दु से अरुण नदी की भीमकाय दरी की तलहटी अठारह-बीस हजार फुट गहरी है (सेन्ट्रल हिमालय, पृ० २२६)। उन वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि इस अरुण नदी की यशोगाथा का ठीक प्रकार गान करने के लिये कोई भी भूगर्भशास्त्री अभी तक वहाँ नहीं गया है। पश्चिम में सिंधु की गिलगित के पास गम्भीर दरी और पूर्व में अरुण की गहन द्रोणी, ये हिमालय के दो अपूर्व दृश्य हैं और नदियों ने पर्वतों पर जो विजय पाई है उसके अमर कीर्ति-स्तम्भ हैं। हिमालय का विशाल प्रदेश इस प्रकार के आश्चर्यों की खान है, और इसीलिये उसके रहस्यमय अस्तित्व के प्रति हमें अधिक सचेत होने की आवश्यकता है। यदि हिमालय के प्रति हमारी उदासीनता का पूर्वयुग समाप्त होकर उसके विश्वमुखी परिचय की प्रबल जिज्ञासा का हमारे हृदयों में उदय हो जाए तो यह परिवर्तन हमारे सांस्कृतिक अभ्युदय में भी सहायक होगा। जिस नदी का सम्बन्ध जितने ऊँचे गिरिशिखर से होता है, उसकी धारा का वेग भी उतना ही शक्तिशाली होता है। जैसे आध्यात्मिक अर्थों में हमको अपने ज्ञान के हिमालय से जुड़ने की आवश्यकता है, वैसे ही भौतिक अर्थों में भी हिमालय के हिममण्डित उच्छ्रित शृंगों का सान्निध्य और परिचय हमारे राष्ट्र-शरीर के रुके हुए संस्कृति-स्रोतों में नवीन हरकत और चेतना उत्पन्न कर सकता है। स्वामी प्रणवानन्द का यह प्रयत्न इसी दिशा में होने के कारण विशेष अभिनन्दनीय है।

कैलास पर्वत भी हिमालय का ही एक विशेष प्रदेश है। प्राचीन

हिमालय की व्यापक परिभाषा यही थी—

मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलासो नाम पर्वतः (मत्स्य पु० १२१।२)

उस कैलास-मानसरोवर तक पहुँचने के लिये सुमहान् मध्य हिमवान् (ग्रेट सेन्ट्रल हिमालय) को पार करके जाना पड़ता है। अतएव कुमायूँ में फैले हुए हिमालय से शिलाजाल के साथ अच्छा परिचय कैलास-यात्री को प्राप्त करना चाहिए। मध्य हिमवान् के दो खण्ड कहे गए हैं, पश्चिम में गंगा से परिपूत केदारखंड और पूर्व में सरयू से मानसरोवर तक विस्तृत मानसखण्ड। मानसखण्ड का वर्णन मानसखंड ग्रंथ में है जो स्कंद पुराण का एक अंश माना जाता है। पर पण्डित बदरीदत्तजी पाण्डे का अनुमान है कि यह धार्मिक भूगोल का संग्रह-ग्रंथ कूर्माचल में कूर्माचली पण्डितों के द्वारा किसी समय रचा गया (कुमायूँ का इतिहास, पृ० १७७)। इस पुराण की यह काव्यमय कल्पना कितनी मधुर है कि विष्णु हिमालय के रूप में, शिव कैलास के रूप में, और ब्रह्मा विंध्याचल के रूप में प्रगट हुए। पृथिवी के विष्णु से यह पूछने पर कि 'तुम अपने रूप को छोड़कर पर्वतरूप में क्यों प्रकट होते हो?', विष्णु ने पर्वतों की महिमा में क्या ही ठीक कहा है—'पर्वत के रूप में जो आनन्द है, वह प्राणीरूप में नहीं है; क्योंकि पर्वतों को गर्मी, जाड़ा, दुःख, क्रोध, भय, हर्ष आदि विकार तंग नहीं करते।' प्राचीन दृष्टि से कैलास और मानस खंड के भूगोल का स्पष्टीकरण करने के लिये मानसखंड ग्रंथ का समुचित सम्पादन होना चाहिए। तिब्बती कैलास पुराण का, जिसका स्वामीजी ने उल्लेख किया है, प्रकाशन होना भी आवश्यक है। इस प्रकार कैलास-मानसखंड एवं हिमालय के भूगोल का फिर से उद्धार किया जा सकता है।

हिमालय के अध्ययन की एक और दृष्टि भी है जो हमें पश्चिमी वैज्ञानिकों से प्राप्त होती है। वह है हिमालय की प्रस्तर रचना और भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से उसके आयुष्य का निर्धारण। हाइम और गंसेर का 'सेन्ट्रल हिमालय' नामक ग्रंथ, जिसका ऊपर उल्लेख हो

चुका है, इस विषय में अत्यंत रोचक है। उसमें और भी सहायक ग्रन्थों के नाम आए हैं, जिनमें बुरार्ड और हेडन कृत 'हिमालय के भूगोल और भूगर्भ की रूप-रेखा—'(ए स्केच आफ दि जिओग्रॉफी एण्ड जिओलाजी आफ दि हिमालयाज, दिल्ली १९३४) नामक ग्रंथ अत्यंत उपयोगी है। इनसे ज्ञात होता है कि कैलास और हिमालय पर्वत का जन्म मध्य जन्तुक युग के अन्त में और तार्तीयिक युग (टर्शियरी) के आरम्भ में किसी समय हुआ। भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार भू-रचना के मुख्य युग-विभाग निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यग्रजंतुक	केनोजोइक	४ करोड़ वर्ष—स्तन्यपायी जन्तु
(२) मध्यजंतुक	मेसोजोइक	१४ ,, ,,—सरीसृप, दानव-सरट आदि
(३) अपर पुराजंतुक	लेटर पेलीओजोइक	२६ ,, ,,—मीन झष आदि
(४) पूर्व पुराजंतुक	अर्ली पेलीओजोइक	३६ ,, ,,—अमेरु जीव, समुद्र बिच्छू आदि
(५) प्रारम्भ जंतुक	प्रोटेरोजोइक	६० ,, ,,—काई, श्यान, मत्स्य आदि
(६) अजंतुक	एजोइक	८० ,, ,,—कोई जीव नहीं

अपर पुराजंतुक युग से बाद के काल को वैज्ञानिक आर्ययुग और उससे पूर्व को द्राविड़ युग कहते हैं। मध्यजंतुक काल में बड़े-बड़े दानवसरट (डाइनोसार्स) जैसे सरीसृपों का जोर था। जब वह युग बीता तो प्रत्यग्रजंतुक नामक नया युग आरंभ हुआ। उसका पूर्वकाल विभाग 'टर्शियरी' या तृतीयक और पिछला 'क्वार्टरनेरी' या तुरीयक कहलाता है। इस तृतीयक युग के आरम्भ में भारतीय भूगोल में बड़ी चकनाचूर करने वाली घटनाएँ घटीं। बड़े-बड़े भूभाग विलट गए, पर्वतों की जगह समुद्र और समुद्र की जगह पर्वत प्रगट हो गए। बंगाल की खाड़ी (महोदधि) और अरब समुद्र (रत्नाकर) की धरती डूब गई और उसका संतुलन पूरा करने के लिये मध्य हिमवान् का उत्तुंग भाग समुद्र-तल

से ऊपर फेंक दिया गया। उस युग में समस्त पृथ्वी पर भारी हड़कंप मचा हुआ था। वैदिक शब्दों में धरित्री व्यथमान थी और पर्वत प्रकुपित थे—

य: पृथिवीं व्यथमाना मदृंहद्,

य: पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। (ऋ० २।१२।२)

पृथ्वी पर हजारों मीलों की दूरी में तलणात्मक धक्के (टेकटोनिक अर्थात् बिल्डिंग मूवमेण्ट्स) लग रहे थे, भूधर लड़खड़ाकर अपना संतुलन संभाल रहे थे। कुछ काल बाद पृथ्वी पर स्तंभन का युग आया, धरती अपने स्थान पर दृढ़ हुई। यह भगीरथ घटना तृतीयक काल-विभाग के उप:काल में लगभग ४ करोड़ वर्ष पूर्व घटी। उसी समय हिमालय और कैलास भूगर्भ से बाहर आए। उससे पूर्व हिमालय में एक अर्णव या पाथोधि था, जिसे वैज्ञानिक "टेथिस" का नाम देते हैं। जो हिमालय इस अर्णव के नीचे छिपा था, उसे "टेथिस हिमालय" कहा जाता है, जिसे हम अपनी भाषा में अर्णव हिमालय या पाथोधि-हिमालय कह सकते हैं। अथर्व वेद के पृथिवी सूक्त में भी लिखा है कि यह भूमि पहले अर्णव जल के नीचे छिपी हुई थी—

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् (अथर्ववेद १२।१।८)

जब से इस पाथोधि—हिमालय का जन्म हुआ तभी से भारतवर्ष का वर्तमान स्वरूप, जो कुमारी अंतरीप से आरम्भ होकर शिवालक तक फैला है, स्थिर हुआ और जो कूर्म संस्थान (कानफिगरेशन) उस समय बना वह प्राय: बिना परिवर्तन के अभीतक चला जाता है। इस प्रकार पाथोधि-हिमालय और कैलास के जन्म की कथा अत्यंत रोचक है। और चट्टानों के ऊपर-नीचे जमे हुए परतों को खोल-खोलकर इन शैल-सम्राटों के इतिहास का अध्ययन विज्ञान का एक आश्चर्यजनक चमत्कार है। हमारे भूगर्भवेत्ता हिंदी भाषा में जब इस विषय का विवेचन प्रस्तुत करेंगे, उस समय इस शिलीभूत पुरातत्त्व का सम्यक् महत्त्व हमारी समझ में आ सकेगा। हिमालय के साथ हमारे परिचय की गति में जिस

प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होगी उसी प्रकार ये रहस्य भी प्रकाश में आने लगेंगे। हमारी अभिलाषा है कि जिस प्रकार स्वीडन और स्वीजरलैंड के उत्साही विद्वान शास्त्रीय चक्षुष्मत्ता लेकर हिमालय के शिखरों का आरोहण करते हैं और उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार की भावना हमारे विद्वानों में भी जाग्रत हो और हम भी सर्वलोक नमस्कृता अलकनन्दा या यशोमती अरुण नदियों की जीवन-कथा एवं हिमालय के शालग्रामीय प्रस्तरों (एमोनाइट फासिल्स) की कहानी को स्वयं समझें और उसका उद्धार करें।

हिमालय की पूर्व-पश्चिम गामिनी त्रिपुण्ड्-रेखा से परिचित होने का हम जितना भी प्रयत्न करें, हमारे लिये श्रेयस्कर है। हमारे देश-वासियों ने प्राचीनकाल में हिमालय की बाहरी शृंखला, भीतरी शृंखला, और गर्भ-शृंखला की तीन समानान्तर बाहियों को पास से देखा था और उनके भेद को पहचान लिया था। उन्हें वे उपगिरि (सिवालिक रेंज), बहिर्गिरि (लेसर हिमालयाज्) और अन्तर्गिरि (ग्रेट सेन्ट्रल हिमालयाज्) कहते थे। ये तीन गिरि हिमालय पर चढ़ने की निसेनी के तीन डंडे हैं या हिमालयरूपी विष्णु के चंक्रमण के तीन पैर हैं, जिन्हें हर एक यात्री बदरीनाथ या कैलास की यात्रा में तुरंत पहचान सकता है। उपगिरि दो-ढाई हजार फीट तक ऊँचा है। उसके बाद एकदम बहिर्गिरि का सिलसिला आ जाता है, जो ६ से १० हजार फुट तक ऊँचा है। हिमालय की सुंदरतम बस्तियाँ और घाटियाँ, जैसे काश्मीर, कुल्लू, गढ़वाल, कूर्माचल और नेपाल, इसी बहिर्गिरि में हैं। इसके बाद सबसे ऊँची चोटियों से भरा हुआ सुमहान् हिमवंत (ग्रेट हिमालया) है, जिसमें बंदरपूँछ, बदरीनाथ, केदारनाथ, द्रोणगिरि, नंदादेवी, त्रिशूली, पंचशूली, गौरीशंकर आदि ऊँचे शिखर हैं, जिनपर सनातन हिमराशि जमी रहती है और जिनके ढाल पर अनेक हिमनदी और हिमश्रथों के अद्भुत मनोहारी दृश्य

विद्यमान हैं।[1]

इस पर्वतमाला के उस पार तिब्बत की ओर कैलास-श्रेणी है, जिसे हिमालय के उत्तरी ककुद् की ही एक बाढ़ कहना चाहिए। कैलास के दक्षिण में मानो उसके दोनों चरणों को धोने के लिये निर्मल पाद्योदक से भरे हुए दो सुन्दर सरोवर हैं, जिनमें से एक राक्षसताल या रावणहृद कहलाता है और दूसरा मान-सरोवर है, जहाँ देवों का निवास कहा जाता है। राक्षसताल और मान-सरोवर के जमने, दड़कने और उनके द्वीपों का अत्यंत रोचक अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ में दिया गया है जिसमें खोज की बहुमूल्य सामग्री पहली बार ही दी गई है। इसी प्रकार दोनों सरोवरों को मिलानेवाली गंगा छू धारा के विषय में भी अधिकांश सामग्री पहली बार ही ग्रंथ-लेखक ने प्रस्तुत की है। शीतकाल में मानसरोवर का और गंगा छू का अध्ययन करने का सौभाग्य किसी यूरोपीय अन्वेषक को भी अभीतक नहीं प्राप्त हुआ। स्वामीजी का यह कार्य अत्यंत मौलिक है। इस प्रकार यह ग्रंथ हिन्दी जगत् के लिये एक नवीन संदेश लाता है। आशा है हमारे साहित्यिक, लेखक की तरह ही, हिमालय की देव-भूमियों में स्वयं अपने पैरों से विचरण करेंगे और हिमालय का इस भारत-भूमि पर जो ऋण है, उसके मूल को और विस्तार को भली प्रकार समझने का उद्यम करेंगे।

---

१ हिमालय के विभागों का अत्यंत विशद वर्णन श्री जयचंद्रजी ने अपनी 'भारत-भूमि' पुस्तक में किया है, जो अत्यंत पठनीय है। (पृ० १०८)

: २० :

राष्ट्र की अमूल्य निधि

: १ :

शिमला की सात हजार फुट ऊँची चोटी पर जिसका नाम 'समरहिल' या ग्रीष्म गिरि है जब टहलने जाता तो रौंस और चीड़ के वनों को देखकर आपको[1] स्मरण करता और शिमले से नौ मील दूर आठ हजार फुट ऊँचे मशोबरे के शिखर पर जो १५०० सेब के वृक्षों से लहलहाता हुआ भारी बगीचा है, उसमें जिस दिन मैं वन-विहार करने गया उस दिन भी (५ सितम्बर) को उस प्रशांत वन-देवी के प्रांगण में बार-बार आपको याद करता रहा। कदाचित् उस समय आप मेरे साथ होते तो मुझे विश्वास है कि बीर बहूटी के जैसे चटकीले रंग वाले सेबों को देखकर आपका आन्तरिक ज्वर अवश्य ही छूमन्तर हो गया होता। जहां तक दृष्टि जाती थी लाल-लाल फलों से लदे हुए वृक्ष स्वास्थ्य की लालिमा से लहलहा रहे थे। उनके दर्शन से स्नायविक स्फूर्त्ति प्राप्त होती थी। मनुष्य तो क्या देवता भी उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहेंगे। पहाड़ में प्रकृति के वरदान से सभी कुछ सुन्दर है। चोटी और घाटी सभी एकदम सीधे और लम्बे वृक्षों से भरी हुई हैं। उन सरल और उदार वनस्पतियों को देखकर चित्त में विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। रौंस (फर), कैल आदि वृक्ष इन पर्वतीय प्रदेशों की विशेषता है; और ऊँचे जाकर देवदारुओं के सघन-वन कहे जाते हैं। पर इस यात्रा में हमें हिमालय के उन वरद पुत्रों के दर्शन न मिल सके, जिन्हें लाखामण्डल की यात्रा के समय जी भरकर देखा था। फिर भी हिमालय सभी जगह मनोरम है। एक-से-एक विचित्र दृश्य भरे पड़े हैं। शिमला के पर्वतीय प्रदेश में देशी राज्यों की ऐसी भरमार है, जैसे कटहल में कोए। कोटी, जूंगा की रियासतें तो

---

१ पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र

मिली हुई ही हैं। शिमला से ३३ मील उत्तर में सतलज नदी है। वहाँ सतलज के तट पर एक जगह गरम पानी के सोते हैं, जिन्हें यहाँ 'तत्ता पानी' कहते हैं। बहुत लोग वहां विहार-यात्रा के लिये जाते हैं। इस यात्रा में तो हम केवल संकल्प करके ही संतोष मान बैठे कि फिर कभी आकर महान् शुतुद्रु नद को अपना अर्घ्य चढ़ावेंगे—वह शुतुद्रु, जो हिमालय को शतधा विद्रावण करके पश्चिमी तिब्बत को चीर कर बशहर—रामपुर में अपने लिये मार्ग काटता हुआ पंजाब में बहा है। शुतुद्रु का दर्शन करने की लालसा बहुत दिनों से हमारे मन में छिपी हुई है। जिस दिन उसके अमृततुल्य जल के तीन आचमन करने का हमें सौभाग्य प्राप्त होगा उस दिन हम अपने आपको सचमुच कृत-कृत्य समझेंगे!

शिमला से साठ मील पर कोटगढ़ है, जहाँ सेब के वृक्षों को धरती ने खूब माना है। बीसियों मील तक पृथ्वी सेब के बगीचों से पटी हुई है, कोटगढ़ के सेबों से शिमला के बाजार भी जगमगाते हैं। कोटगढ़ एक बार अवश्य देखना चाहिए। हमारे साथी वीरसिंह ने हमें विश्वास दिलाया कि वह कभी-कभी एक दिन में ही अपने घर कोटगढ़ तक का धावा मार लेता है। छोटी-छोटी घंटियों की माला पहने हुए, जिन्हें पहाड़ी भाषा में 'कंगरियालो' कहते हैं (संभवतः किंकिणीजाल) और रंग-बिरंगे साजों से सिंगारे हुए तगड़े खच्चर रात-दिन बिना आयास के ऊँचे-नीचे पहाड़ों का रास्ता नापते रहते हैं। पर पहाड़ी मनुष्यों को तो ऊबड़-खाबड़ धरती तय करने में उतना भी आयास नहीं जान पड़ता। कोटगढ़ से आगे वही रास्ता रामपुर बशहर को चला गया है, जो सतलज के किनारे एक प्रसिद्ध रियासत है और जहाँ से तिब्बत को मार्ग जाता है। शिमले से लगभग ढाई सौ मील पर तिब्बत की प्रसिद्ध मंडी गरतोक है, जहाँ लगभग एक करोड़ के मूल्य की ऊन की मंडी लगती है। कार्त्तिकी पूर्णिमा के निकट रामपुर में भी एक बड़ा मेला लगता है, जिसमें अनेक प्रकार का ऊन का सामान बिकने आता है। ऊन की कताई-बुनाई पहाड़ियों की जन्मघुट्टी के साथ जुड़ी है। रिक्शा खींचने वाले फटेहाल कुली

भी तकली पर बढ़िया ऊन कात लेते हैं। अपने हाथ से काता हुआ ऊन बुनकरों को देकर नियत दर पर बुनवा लिया जाता है। पहाड़ों में जो बेहिसाब दरिद्रता है, उसे दूर करने का यह अमोघ नुस्खा है—ऊनी वस्त्र का उत्पादन और व्यापार। यदि जनता की हितैषी संस्थाएं और सरकार ऊनी व्यवसाय को संगठित और उन्नत कर दें तो निस्संदेह इन ठंडे प्रदेशों से करोड़ों रुपयों का ऊनी माल तैयार होकर बाहर जा सकता है। आज जो यहाँ की जनता नितांत दुखियारी बनी हुई है उसका वह चिरंतन अभिशाप भी बहुत शीघ्र दूर हो सकता है। शिमला, मंसूरी, नैनीताल सब जगह एक-सी दुःखद गाथा अनुभव में आती है, अर्थात् इन स्थानों में और सब तो सुखी दिखलाई पड़ते हैं, पर पर्वत की गोद में जो जन्मे हैं, जो माई के लाल इसी धरती के पुत्र हैं, वे नितान्त दरिद्र, हीन, दुःखी और अपढ़ हैं। उनके क्षीण भौतिक काय पर पैर रखकर ही और लोग इन प्रदेशों में गुलछर्रे उड़ा सकते हैं। अतएव नैतिक दृष्टि से पर्वतीय जनता को अज्ञान और दारिद्रय के महादुःख से बचाना हम सबका पहला कर्त्तव्य होना चाहिए। उनको सुखी बना कर ही आगन्तुक लोग सच्चे अर्थों में सुखी बन सकेंगे। बिना पृथ्वीपुत्रों को सुखी किए सुख का भोग विडम्बनामात्र है।

लखनऊ
१७—६—४५

: २ :

सारनाथ, पाटलिपुत्र, नालन्दा, पावापुरी, राजगृह आदि प्राचीन स्थानों में घूम कर अब लाहौर होता हुआ सिन्धु की प्राचीन सभ्यता के दर्शन-परिचय के लिये २८ अप्रैल को यहाँ मोहंजोदड़ो आया। स्टेशन पर ही तांगे वाले के मुँह से सुना कि स्थानीय उच्चारण 'मोयां जो दड़ो' है जिसका अर्थ है 'मरे हुओं की ढेरी या टीला'। नाम की इस निरुक्ति ने इस स्थान के साथ बड़ा हित किया। अपढ़ जनता ने इसे भूतों का टीला समझ कर यहाँ की ईंटों और मलबे को अछूता रहने दिया।

संभवतः इसी कारण ईंटों की लूट से जो दुर्गति हड़प्पा की हुई, मोहंजो-दड़ो उससे बचा रह गया (मोहंजोदड़ो नाम स्थानीय उच्चारण की अशुद्ध अनुकृति है। अब उसकी एक व्युत्पत्ति 'मोहन का टीला' अर्थात् मोहन का बसाया हुआ गांव इस प्रकार भी की जाती है, पर वस्तुतः 'मुयां जो' अथवा 'मोयाँ जो दड़ो' ही शुद्ध सिंधी नाम है)।

वर्तमान सिंध प्रान्त का प्राचीन नाम सौवीर था और आजकल पंजाब का जो इलाका सिंधसागर दोआब कहलाता है, उसका पुराना नाम 'सिंधु जनपद' था। 'सिंधु-सौवीर' नामों का जोड़ा प्राचीन भारतीय भूगोल में प्रसिद्ध है। सौवीर की राजधानी रोरुक नगर थी, जिसे आज-कल 'रोहड़ी' या 'रोड़ी' कहते हैं। रोड़ी सिंधुनद के बाएं या पूर्वी तट पर है। उसके ठीक सामने पश्चिमी तट पर दूसरा प्रसिद्ध नगर सक्खर है। रोड़ी से सक्खर तक सिंधु पर पुल बना हुआ है। सक्खर भी अति प्राचीन स्थान है। इसका पुराना नाम 'शार्कर' था जो पाणिनि की अष्टा-ध्यायी में भी आया है। वहाँ लिखा है कि पहाड़ी कंकड़-पत्थर (संस्कृत शर्करा) के पास बसा होने के कारण इसका शार्कर नाम पड़ा। आज भी सक्खर से पहाड़ी प्रदेश शुरू हो जाता है। सक्खर से रेल की लाइन लड़काना एवं सिंधु के दाहिने किनारे होती हुई डोकरी तक आती है जो कि मोहंजोदड़ो का स्टेशन है। सिंधुनद इस भूमि का महान् देवता है। अब गाड़ी तैयार है और हम लोग प्रातःकाल के सुखद समीर का आनंद लेते हुए सिंधु को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये एवं शरीर को उसके जल से प्रोक्षित करने के लिये जा रहे हैं।

× × ×

लगभग पांच घण्टे तक सिंधुनद के तट पर जंगल और गांवों की सैर से नया अनुभव प्राप्त हुआ। यह देश भी विचित्र है। अब से पांच हज़ार वर्ष पहिले की खुदाई में जिस प्रकार की गाड़ियां मिट्टी के खिलौनों में प्राप्त हुई हैं, ठीक वैसी ही शक्ल की आज भी सिन्ध के गांवों में चलती हैं। गांव के मिट्टी के घड़ों और बर्तनों पर काली रेखाओं के

आँकान भी बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। अनाज रखने के बड़े और छोटे लम्बोतरे घड़े बहुत-से घरों के बाहर रखे हुए दिखलाई पड़े। इनका आकार भी पुराने घड़ों से मिलता है। अब इन कच्चे घड़ों को 'गोन्दी' कहते हैं। पग-पग पर सिंधी भाषा-भाषियों के मुंह से पुराने संस्कृत-प्राकृत शब्द सुन पड़ते हैं। बैलगाड़ी पर बैठते ही गाड़ीवान ने बताया कि पलाल रखकर गाड़ी में बैठने की जगह को गुदगुदा बनाया गया था। यहाँ यह शब्द ठेठ संस्कृत रूप में है, जिसे अपने यहाँ 'पुआल' 'पयार' कहते हैं। सिंधु-नद के किनारे पर 'डब्ब' का घना जङ्गल है। यह 'डब्ब' संस्कृत की दर्भ या कुश है, जिसे सारे पंजाब सिंध में 'डब्ब' नाम से पुकारते हैं। मार्ग में झाऊ के पेड़ों का बहुत दूर तक घना जङ्गल चला गया था। सिंधु का कछार गङ्गा-यमुना के कछारों की तरह झाऊ से भरा हुआ मिला। एक बार काशी में पढ़ते हुए गङ्गा के तटवर्त्ती झाऊ के जङ्गल में मैंने मार्ग भूल कर अपने आपको खो ही दिया था। कहीं-कहीं बबूल के वृक्ष भी थे। मार्ग में सर्वत्र गोभी घास अपने पीले फूलों से इतरा रही थी। इधर इसे 'भत्तर' कहते हैं।

मोहंजोदड़ो में प्राचीन असुर-प्रधान सभ्यता के अवशेषों का परिचय प्राप्त करके हड़प्पा आया। यह प्राचीन हरियूपा नगरी है। यहाँ भी सिंधु सभ्यता के अवशेष मिल चुके हैं। आजकल पुरातत्व विभाग की ओर से खुदाई हो रही है। पुराने नगर या पुर का परकोटा ढूँढ़ निकाला गया है, जिससे मालूम होता है कि इन पुरों की बनावट कोट या कोटले के ढङ्ग पर थी। संभव है ऐसे पुरों वाली सभ्यता को ध्वस्त करने के कारण ही आर्यों के प्रधान देव 'पुरंभेत्ता' या 'पुरंदर' कहलाते रहे हों। इन दो स्थानों की सभ्यता का सम्यक् अध्ययन अपने देश में होना चाहिए। प्राचीन इतिहास की गूढ़ अनुश्रुति को सुलझाने की कुञ्जी 'हड़प्पा' और मोहंजोदड़ो के खंडहरों में ही कहीं छिपी रखी हुई है। देखें किस बड़भागी के हाथ लगती है।

मोहंजोदड़ो
१—५—४६

: ३ :

सुदूर मद्रास प्रान्त के गुंटूर जिले में कृष्णानदी के तट पर पर्वतों से परिवेष्टित नागार्जुनी कोण्डा स्थान है। इसका पुराना नाम विजयपुरी था, जिसे दक्षिण के इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने अपनी राजधानी बनाया था। ईस्वी तीसरी शताब्दी में यहां बीसियों स्तूप थे, जिनके चारों ओर संगमरमर के शिला-पट्ट जड़े थे। शिला-पट्ट शिल्प-लक्ष्मी के अनुपम प्रतीक हैं। हमारा सौभाग्य है कि प्राचीन भारतवासी अपनी अनन्त कला, प्रेम, सौन्दर्य और यौवन को पत्थरों के अंकों में अमर बना कर छोड़ गए हैं। जैसी सुन्दरता इन शिला-पट्टों पर अंकित है वैसी भारतीय कला में अन्यत्र कम देखने को मिलेगी। पत्थर में चित्र जैसा रेखा-लालित्य उत्पन्न किया गया है। शिल्प की यह सुन्दर सामग्री राष्ट्र की बहुमूल्य निधि है।

यहां वन-प्रान्तों में अनेक वन्य जातियां बसती हैं। अभी-अभी लम्बाड़ी बालाओं का नृत्य हमने देखा। वन-देवता की चार स्वस्थ और प्रसन्न पुत्रियां अपने उत्साह और उमंग-भरे मन को नृत्य में प्रदर्शित कर रही थीं। कितना स्वस्थ और स्वच्छ विनोद था जो केवल वन्य प्रदेशों में प्रकृति के अपने प्रांगण में सुरक्षित रह गया है। रक्ताम्बर की घाघर और कांच के परेलों से सुशोभित, पैरों में घूँघरू और बांकड़ी, हाथों में हाथीदांत की बलियां (वलय), कानों में कुंडल और नाक में चन्द्रिका पहने हुए वन-बालाएं अत्यन्त सुन्दर लगती थीं। नृत्य और गीत इनके प्रसन्नता-भरे स्वास्थ्य की प्राण-वायु हैं। पैरों और हाथों के संचार में वे भीतरी प्रसन्नता को उंडेल कर इन एकांत प्रदेशों को आनंद से भर देती हैं। यहां रात-दिन पर्व और उत्सव का आनन्द है, जो उन्हें जीवित रखता है। यह जाति हिन्दू है और उनकी भाषा और आकृति से ज्ञात होता है कि वे किसी समय फिरन्दर रूप में पंजाब या उत्तरी भारत से आकर यहां बसी होंगी। उनकी निजी बोली चारों ओर की तेलगू भाषा से भिन्न है, यद्यपि यह जाति तेलगू भी बोलती और समझती है।

बाहुओं में भरे हुए हाथी दांत के कंगनों के लिये उनकी बोली में 'वलियाँ' शब्द है, जो स्पष्ट संस्कृत 'वलय' से बना है। वलय से ही निर्गत 'बला' (बहुवचन, बले) मेरठ की बोली में इसी अर्थ में आज तक व्यवहृत होता है। पैरों के घुमावदार कड़ों के लिये प्रयुक्त उनका 'बांकड़ी' शब्द भी चालू है। पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त की कितनी ही उठाऊ-चूल्हा जातियों में कांच के गोल टुकड़े सींकर बनाए हुए वस्त्रों के पहनने की प्रथा आज तक जीवित है। बनजारों में एवं जाट-गूजरों की स्त्रियों में भी इस प्रकार के कांच के परेलों (उत्तरीय) का रिवाज है। हमारे मित्र श्री जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने व्रजभाषा का एक लोकगीत मुझे सुनाया था, जिसमें एक नवेली अपने रसिया पति से कांचों का परेला मोल ले देने का आग्रह करती है। लम्बाड़ी बालाओं को भी कांच-जटित वस्त्र बहुत प्रिय हैं। रंगीली घाघर और अंगिया में कांच के गोल चंदों की पंक्तियां टांक कर वे उन्हें अनोखे रूप से सजाती हैं। यह प्रथा भी उनके उत्तरापथ से आने की सूचना देती है। नाचते समय वे कुछ गीत भी गाती हैं, जो उनकी अपनी बोली के हैं। उनके संकलन और अध्ययन से इस जाति के विकास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है। हमारे देश में न जाने कितनी जातियां अभी तक अपने रंग-भरे जीवन को पर्वत और वनों की गोद में सुरक्षित रख कर जीवित हैं। जबतक उनमें नृत्य और गीत का प्रचार है तबतक वे अविनश्वर हैं। उनका सख्य-भाव प्राप्त करके उनका समग्र अध्ययन करने के लिये कितने ही लोकवार्त्ता शास्त्रियों एवं नृतत्व विशेषज्ञों की आवश्यकता है। ईश्वर करे प्रकृति के स्वच्छन्दचारी प्राण-वायु और कृष्णा की निर्मल जलधारा की भांति इन जातियों का जीवन और उनकी लोकस्थिति भी चिरजीवी हो।[1]

नागार्जुनी कोंडा (जिला गुंटूर)
२३-५-४६

---

१ पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखे पत्र।

: २१ :

वणिक् सूत्र

इतिहास के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवर्ष का वाणिज्य-व्यवसाय बहुत ही उन्नत दशा में था। श्रेष्ठी लोग सार्थवाह के रूप में पाँच-पाँच सौ शकटों का सार्थ बना कर उनपर बहुमूल्य भांड लाद कर देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की यात्रा करते थे। पाटलिपुत्र से पूर्व में ताम्रलिप्ति और पश्चिम में कपिशा और वाह्लीक तक तथा दक्षिण में भृगुकच्छ (भड़ौंच) और पांड्य कवाट तक व्यापार के मार्ग खुले हुए थे। भारतवर्ष की सीमा से बाहर भी देश के व्यापार का फैलाव था। पश्चिम की ओर रोम साम्राज्य के साथ भारतवर्ष का खूब बढ़ा-चढ़ा व्यापार था, जिसकी बदौलत रोम के धन की सुनहली नदी भारत-भूमि में आकर अपनी भेंट चढ़ाती थी। लिखा है कि एक बार कुछ भारतीय व्यापारियों के जहाज समुद्र में रास्ता भूलकर जर्मनी के उत्तरी किनारे पर जा निकले थे। गुजरात में आज तक एक उक्ति चली आती है, जिसका अर्थ यह है कि जो जावा देश को जाता है वह फिर वापस नहीं लौटता, अर्थात् वहीं बस जाता है। कदाचित् जो कोई आ जाता है तो वह इतने मोती लाता है कि पुश्त-दर-पुश्त के लिये काफी हों।

जो जाए जावे, ते पाछे नहिं आवे।
ने जो आवे तो परिया-परिया मोती लावे॥[१]

---

१ यह कहावत हमें अपने मित्र श्री देवेन्द्रजी सत्यार्थी (लोकगीत-परिव्राजक) से प्राप्त हुई थी।

इस बढ़े-चढ़े व्यापार की मूल भित्ति भारतवासियों की ईमानदारी, उनका परिश्रम और साहस था। उनकी सफलता के मूल कारण कुछ ऐसे व्यापारिक नियम रहे होंगे जिनके आश्रय से सभी व्यवसायी अपने व्यवसाय में उन्नति किया करते हैं। उनके व्यापारिक सिद्धान्त (बिज़नेस मैथड्स) क्या थे, इस विषय पर प्राचीन साहित्य में कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। यदि कोई चतुर महाश्रेष्ठी अपने अनुभव का निचोड़ हमारे लिये लिपिबद्ध कर जाता, तो आज हम उसका कितना उपकार मानते। जहाँ हमारे यहाँ विविध विषयों के अनेक सूत्र-ग्रन्थों की रचना हुई थी वहाँ वाणिज्य जैसे अति महत्त्व के विषय पर वणिक्-सूत्र जैसा कोई ग्रन्थ या तो बना नहीं या अब शेष नहीं रहा। इस विषय की जानकारी के लिये यदि समस्त संस्कृत, पाली और भाषा साहित्य का मंथन किया जाए तो संभव है कि प्राचीन वणिज्य-बुद्धि के सम्बन्ध में कुछ अच्छी सामग्री प्राप्त हो सके। उदाहरण के लिये वात्स्यायन ने कामसूत्र में एक अत्यन्त चुस्त वणिक् सूत्र का उल्लेख किया है जिसकी सचाई को आज भी मनुष्यमात्र बिना तर्क के मानते हैं। वह सूत्र यह है—

वरं सांशयिकान्निष्कात् असांशयिकः कार्षापणः।

अर्थात्, खटके वाले निष्क से बिना खटके का कार्षापण अच्छा है। निष्क (सोने की मुद्रा) और कार्षापण (चांदी का पुराना रुपया) भारतवर्ष के सबसे प्राचीन सिक्के थे। उनका चलन विक्रम से लगभग ६०० वर्ष पूर्व था। अतएव इस वणिक् सूत्र की आयु भी लगभग ढाई हजार वर्ष की समझी जानी चाहिए। व्यापार में हर एक कुशल व्यापारी नगद धर्म को अच्छा समझता है और उधार से बचना चाहता है। ऊपर के सूत्र का मूल भाव यही है कि जीवन में नगद धर्म ही सबसे उत्तम है। इसीके साथ एक दूसरा सूत्र भी वात्स्यायन की कृपा से ही हमें प्राप्त होता है, यथा—

वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्।

अर्थात्, उधार के मोर से नगद का कबूतर अच्छा है।

आज वे प्राचीन व्यापारी नहीं रहे पर उनके वे संस्कृत सूत्र युग-धर्म के अनुसार चोला बदलते हुए कुछ-कुछ हमारे बीच में बच रहे हैं। 'वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्' का कायाकल्प 'नौ नगद न तेरह उधार' के रूप में आज भी जीवित है, उसमें वैसी ही चुस्ती और स्वयंसिद्धता की उत्कट छाप है। ऐसे न्यायों में बुद्धिमत्ता कूट-कूटकर भरी हुई होती है। उनका सत्य, अनुभव के खरेपन के कारण बिना तर्क के स्वीकार किया जाता है। आकाश में चमकते हुए नक्षत्रों की तरह कितने ही वणिक् सूत्र अद्यावधि हमारे ज्ञानरूपी आकाश में टंके हुए हैं।

इस प्रकार के कितने ही वणिक् सूत्र अनुभवी व्यवसाइयों की जिह्वा पर आज भी मिलते हैं। उनका एक बृहत् संग्रह प्रकाशित होना चाहिए और अर्वाचीन अर्थशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के साथ मिलान करके तुलनात्मक रीति से उन सूत्रों का सम्पादन होना चाहिए। काशी के महाजनी विद्यालय में स्वदेशी पद्धति से कोठीवाल हिसाब-किताब और बहीखाते की अच्छी शिक्षा दी जाती है। इसके संयोजकों ने इस शिक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक रूप देने में अपना मस्तिष्क और समय दोनों का व्यय किया है। यदि वहां के कार्यकर्ता इस आयोजन को भी हाथ में लें और अनुभवशील पुराने व्यक्तियों की सहायता से व्यापार के विविध अंगों से सम्बन्धित वणिक् सूत्रों का संग्रह करें तो यह बड़ा उपयोगी कार्य होगा। इस प्रकार का विचार एक बार रायकृष्णदासजी के साथ बात-चीत के सिलसिले में काशी में ही उत्पन्न हुआ था और उसी समय कुछ सूत्रों को टीप लिया गया था। उन्हें हम यहां केवल उदाहरणार्थ दे रहे हैं। पूरे कार्य का विस्तार तो बहुत है।

हिसाब-किताब—

१ पहले लिख पीछे से दे, भूल पड़े तू मुझ से ले।

अर्थात्, मानो स्वयं कागज या बही सेठ से सम्बोधन करके एम

सुनहले नियम का उपदेश करती है। इसके और भी पाठभेद हैं, यथा—

'पहले लिख पीछे से दे। फेर घटे कागज से ले।'

अच्छा हो यदि संग्रहकर्ता सभी उपलब्ध पाठान्तरों को लिख लें।

२—बही कहती है, मुझे रोज देखो तो सवा रत्ती सोना दूं।

चतुर व्यापारी हिसाब को कभी पिछड़ने नहीं देता और पुराने हिसाब को भी देखता रहता है। उससे कभी-कभी गये-बीते तगादे वसूल होने का ढंग बैठ जाता है।

३—भूल-चूक लेनी-देनी।

हमने अंग्रेजी के बिल-फार्मों पर लैटिन भाषा से संक्षिप्त किए हुए संकेताक्षर 'ई० एण्ड ओ० ई०' छपे देखे हैं। उसका तात्पर्य वही है जो इस गठे हुए अल्पाक्षर देशी सूत्र का है। दूर-दूर के पारस्परिक हिसाब-किताब में विश्वास जमाने वाला मूल-मंत्र यह छोटा नियम ही है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यापारी अपने हिसाब की त्रैकालिक सत्यता की साख भरता है।

४—इनाम सौ-सौ, हिसाब जौ-जौ।

हिसाब गणित-शास्त्र का अनुशासन मानता है और गणित ईश्वर का मूर्तिमान सत्यरूप है, इसलिए हिसाब भी बड़ी पवित्र वस्तु है। ईश्वर के सदृश वह निष्पक्षपात होकर छोटे-बड़े सबके साथ एक-सा व्यवहार करता है। इसलिए हिसाब के क्षेत्र में मुरव्वत या लगी-लिपटी नहीं रखनी चाहिए। जहां ऐसा होता है वहां जीवन का व्यवहार भी गंदला पड़ जाता है। हिसाब के बीच में पिता-पुत्र, पति-पत्नी सबका समान स्वत्व होना चाहिए। इस भाव का अनुवाद एक दूसरे प्रकार से यों कहा जाता है—हिसाब में किसकी नानी मरी है? जिसकी नानी होती है, कारज का खर्चा उसीके जिम्मे पड़ता है। परंतु हिसाब-किताब में दोनों पक्ष बराबर होते हैं, वहां कोई किसीका दबैल नहीं होता।

ऊपर के चार सूत्र ऐसे अनुपम हैं कि उन्हें बही-खातों के आरम्भ में छापना चाहिए और संगमरमर के अक्षरों में लिख कर व्यापार-

व्यवसाय के सार्वजनिक स्थानों में लगाना चाहिए।

दुकानदारी, अर्थात् , माल का क्रयविक्रय या व्यवहार इस सम्बन्ध में भी बहुत-से पुराने गुरुमन्त्र हैं जिन्हें व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का निचोड़ कहना चाहिए। हजारों वर्षों के अनुभव के बाद वे खरे उतरे हैं। यथा—

५—सस्ती का पीछा पकड़े, मंहगी का पीछा न पकड़े।

६—तेजी में दस गाहक। मंदे में गाहक नहीं।

७—कभी ऊंट एक पैसे का मंहगा। कभी सौ का सस्ता।

८—सौदा बेच कर पछतावे।

९—बेचै सो बंजारा। रक्खै सो हत्यारा।

१०—दुश्मन और ग्राहक बार-बार नहीं आते।

११—नौ नक़द न तेरह उधार।

१२—फँसा बनियां दब के बेचै।

पूरा तोलने के सम्बन्ध में कुछ मार्के के सूत्र हैं—

१३—भाव में खाय। तोल में न खाय।

१४—झूठ बोलै मत ना। कम तोलै मत ना॥

१५—पूरा तोल, सुखी रह।

दूकानदार को अकड़्खां होना ठीक नहीं, उसे चाहिए कि ग्राहकों के साथ शिष्टता और नम्रता का व्यवहार करे। कहा है—

१६—जमींदारी गर्मी की। दुकानदारी नर्मी की॥ या,

जमींदारी गरम की। साहूकारी नरम की॥

व्यापार के सम्बन्ध में कई कहावतें हैं—

१७—स्त्री का खसम मर्द। मर्द का खसम रोजगार।

अर्थात्, वह उसका पालन-कर्ता है।

१८—घर कर बनिज संदेसन खेती।

बिनु घर देखे ब्याहै बेटी॥

पर घर राखैं आपनि थाती ।
ये चारों नित कूटैं छाती ॥

१९—तांबा देते चेतना मुख देखे व्यवहार ।

२०—सब वंजोंमें किसानका वंज अन्धा है। अर्थात्, ईश्वराधीन है।

साहूकारी के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूक्तियां मिली हैं—

२१—आश्नाई शरम की। साहूकारी भरम की ॥

अर्थात्, रिश्तेदारी आँखों के शील पर निर्भर है और साहूकारी एक भरम है। जबतक लोगों की निगाह में भरम बना रहता है तभी तक साहूकारी है—सभी बैंक या साहूकारों का यही हाल रहता है; रोजमर्रा कच्चा चिट्ठा कोई गाहक या आसामी नहीं देखता।

२२—बंधी मूठ लाख की। खुली मूठ खाक की ॥
नामी चोर मारा जाय। नामी साह कमा खाय ॥

२३—लाख जाय पर साख न जाय। या
रहे साख, जाय लाख ॥

पूंजी को सम्भालने और समझकर लगाने के सम्बन्ध में भी कितने ही गुरुमन्त्र होंगे जिनमें कई एक ये हैं—

२४—रत्ती-रत्ती साधे। तो द्वारे हाथी बांधे ॥
रत्ती-रत्ती खोवै। तो द्वार बैठ कर रोवै ॥

२५—हीरा घट जाता है। झीरा नहीं घटता ॥

झीरा, अर्थात्, फुटकर खर्च कभी खतम होने में नहीं आता।

२६—थोड़ी पूँजी गुसैयां की आस। या
ओछी पूँजी खसमहिं खाय ॥

वाणिज्य-व्यापार में ऋण का भी एक विशेष स्थान है। उससे सम्बन्धित उक्तियों में सर्वत्र मनुष्य की चतुरता का अच्छा आभास पाया जाता है—

२७—औरत का खसम मर्द। मर्द का खसम कर्जा ॥

२८—लहने का बाप तगादा।

२६—बहूरे की राम-राम जम का सन्देसा ।

३०—रुपया आवे तो हाथ काला । जाय तो मुंह काला ॥

वैश्य-जाति को लक्ष्य करके उसके जातीय चरित्र के गुण-दोषों पर चोट करती हुई अथवा बारीकी के साथ उनकी छान-बीन करने वाली बहुत-सी उक्तियां मिलेंगी, जैसे—

३१—बनिया अपना गुड़ भी चुरा कर खाता है ।

३२—बैठा बनिया क्या करे । इस कोठे का धान उस कोठे करे ।

३३—अघाई भैंस कू झिल्ली या बनिये कू ।

अंतिम उक्ति मेरठी बोली की है जिसका अर्थ यह है कि अधिक धन-वृद्धि को पचाने की शक्ति वैश्य में ही होती है जो स्वभाव से मितव्ययी होते हैं । दूसरे लोग एक सीमा से आगे पैसा बढ़ने पर इतराने लगते हैं । भैंस के बारे में कहा जाता है कि वह जितना खाती है उससे अधिक कभी अघा कर खा ले तो उसको झेल लेती है । इसी तरह धनी बनिए की जितनी समाई है, उससे अधिक धन उसे मिल जावे तो वह पचा जाता है, उसके कारण वह इतरा कर नहीं चलता ।

यह विषय अत्यन्त रोचक है और इसका सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से रहा है । यहां भी हमने अपने राष्ट्रीय जीवन में सूझ और कल्पना से भरपूर काम लिया था । अतएव इस विषय की पूरी छानबीन होनी चाहिए ।

परिशिष्ट

पत्र

(१)

लखनऊ
२५—७—४०

प्रिय चतुर्वेदीजी,

'व्रज-साहित्य-मण्डल' नाम का आपका लेख मिला । खूब पसन्द आया ।

प्रान्तीय बोलियों के सम्बन्ध में तो आपने मेरे मन की बात कह डाली । मैंने पांच वर्ष तक व्रज-साहित्य-सेवियों का ध्यान इस ओर खींचने की कोशिश की । सम्भव है, आपकी प्रेरणा से अब बीज-वपन हो जाए । आगरे की साहित्यिक प्रदर्शनी में जो सन्देश मैंने भेजा था, उससे मालूम होगा कि जनपदों के साहित्य की साधना के लिये मैं कितना उत्सुक हूं । मेरा तो विश्वास है कि हिंदी बिना जनपदों की बोलियों को साथ लिए उन्नति कर ही नहीं सकती । भाषा-शास्त्र की दृष्टि से जनपदों में, गांवों में, वेहिसाब मसाला भरा पड़ा है । मैंने अपने 'पृथ्वी-पुत्र' नामक लेख में भी इस विषय पर ध्यान दिलाया है ।

जो काम व्रज का है, वही अवध का है । महाभारत में भारतीय जनपदों की बड़ी सूची है । मेरे विचार में आजतक वे ही जनपद अपनी संस्कृति की विशेषता लिए हुए हमारी बोलियों के क्षेत्र बने हैं । व्रज में

जो कुछ साहित्य का काम हुआ, उसकी चर्चा इस प्रकार है। व्रजभाषा-कोष का काम श्री जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने आरम्भ किया था। उनसे मालूम कीजिए कि क्या प्रगति हुई है और क्या बाधाएं हैं। सूरदास-शब्द-कोष का कार्य श्री सत्येन्द्रजी की देख-रेख में होने लगा था। मेरे आने के पीछे मालूम हुआ कि पं० रत्नलालजी के पुत्र डा० विश्वपाल-जी ने इस कार्य को अपने धन से कराना स्वीकार कर लिया था। व्रज-ग्राम-गीत, व्रज-भाषा-धातुपाठ, लोकोक्ति और मुहावरों के संग्रह की भी बात-चीत थी। गीतों का संग्रह सत्येन्द्रजी ने हिन्दी-साहित्य परिषद् की ओर से किया भी था। मैं समझता हूं कि इस प्रकार के कार्यों में सतत प्रेरणा की आवश्यकता रहती ही है। आगरे में साहित्यिक कार्य का जीता-जागता केन्द्र बन चुका है।

आगरा संयुक्तप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का केन्द्र-स्थान या राजधानी बन जावे, यह प्रस्ताव भी मुझे रुचता है। आशा है, आप इसे शीघ्र कार्यान्वित करा सकेंगे। क्या कहूं, जब टर्नर की नैपाली डिक्श-नरी अथवा ग्रियर्सन की काश्मीरी डिक्शनरी जैसे महान् ग्रन्थों को देखता हूं तब हिन्दी की किसी भी बोली के लिये वैसे कोष की याद करके छट-पटाने लगता हूं। व्रज-भाषा और अवधी में तो साहित्यिक धन इतना अधिक है कि उससे भी बड़े कोष को भर सकें।

लखनऊ
११—१—४१

(२)

प्रिय चतुर्वेदीजी,

मेरा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की जो थाती अबतक बची है, उसका निवास हमारे जनपदों में है। हमारे पुरातन आचार, धार्मिक विचार, संस्था, भाषा और बहुमुखी जीवन का अटूट प्रवाह भारतीय ज्ञान तथा उनके समुदाय जनपदों में अभी तक विद्यमान है। टर्नर का नैपाली

कोष, ग्रियर्सन का काश्मीरी कोष—इनके जैसे कितने ही ग्रन्थ-रत्नों की सामग्री भारतीय जनपदों में सुरक्षित है। आप टर्नर और ग्रियर्सन की पद्धति पर कार्य को हाथ में लेने वाले नवयुवक बुन्देलखण्ड के लिये भी उत्पन्न कीजिए। प्रत्येक जानपदी बोली को ऐसे ही धुनवाले व्यक्तियों की चाह है। ग्रियर्सन ने बिहारमें रहते हुए वहाँ के किसानों के जीवन पर एक अमूल्य ग्रन्थ 'बिहार पेजेंट लाइफ़' (Bihar Peasant Life — बिहार कृषक जीवन) के नाम से लिखा था। आपने देखा होगा, न देखा हो तो अवश्य देखिएगा। वह आपके कार्यकर्त्ताओं के लिये एक आदर्श रूपरेखा उपस्थित करता है। प्रादेशिक समस्याओं और बोलियों के लिये कार्य करने की बात अब बहुधा सुनने में आने लगी है। लोगों में उत्साह भी है, पर उसकी वैज्ञानिक पद्धति कुछ विचारशील लोगों को निर्धारित कर देनी चाहिए, जिससे सामान्य कार्यकर्त्ता तदनुसार कार्य में लग सकें।

यदि एक संगठित और व्यवस्थित रीति से पाँच वर्ष तक कार्य होगा तो आशा है, देश और जनता के वास्तविक जीवन के साथ हम गाढ़ा परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

लखनऊ, वैशाख पूर्णिमा २०००

(३)

प्रिय चतुर्वेदीजी,

······दो शब्दों के पढ़ने में शायद भूल हुई है 'फगुनहरा नहीं 'फगुनहटा' शब्द है।

'फगुनहटा' फागुन की विलक्षण हवा है। इसका अनुभव अबकी होली से कुछ ही पहले मार्च के पहले हफ्ते में मुझे मिला। मैं अहिच्छत्रा के प्राचीन टूहों की खुदाई पर गया हुआ था। दो दिन तक जो प्रचण्ड हवा चली उसने सारे जङ्गल को झकझोर डाला। हम लोग खुले टीलों पर खड़े थे। मालूम होता था कि हवा उठाकर फेंक देगी। मैंने एक जौनपुरी मित्र से साल भर पहले फगुनहटे का कुछ परिचय सुन रखा था।

यह नाम भी मुझे उन्होंने ही बताया था और इसका एक ग्रामगीत भी सुनाया था, जो कुछ इस तरह खुलता था—

'फागुन मास बहा फगुनहटा
झर गए पात खड़े रहे रूखा, बड़-बड़ जोग सहा अस दूखा ॥'

फिर गांव जाकर उन्होंने वह गीत भेजा जिसकी कड़ी इस तरह थी—

फागुन मास बहा हवहरा। तरवर पात सबहि झरि परा ॥
झरि पर पात खड़ा रह रूखा। भल-भल कन्त सहाएउ दूखा ॥

इसी वायु का दूसरा नाम 'हवहरा' भी जान पड़ता है। रामनरेशजी त्रिपाठी की पुस्तक 'घाघ और भड्डरी' में एक कहावत में 'हड़हवा' एक वायु का नाम आया है। आप देखिए कि उन्होंने क्या अर्थ दिया है। यही 'हवहरा' जान पड़ती है, जिसका दूसरा नाम 'फगुनहटा' है और जो फागुन में चलती है। हां, तो मैं इस फगुनहटे शब्द का साहित्यिक प्रयोग अपने 'राष्ट्रीय कल्पवृक्ष' नामक लेख में कर चुका था। यह लेख 'आर्यमित्र' में एक बार छपा था। मैंने लिखा था—'फागुन के महीने में शिशिर का मन्त्र पाकर जब तेज फगुनहटा बहता है तब चारों ओर पतझड़ दिखाई देता है। पर इसके बाद ही बसन्त एक नया मंगल-संदेश लेकर आता है'। पर अहिच्छत्रा के उस दिन से पहिले शब्द और उसके अर्थ-सम्बन्ध का मुझे साक्षात् ज्ञान न हुआ था। मैं सोच रहा था कि क्या यही प्रचण्ड वायु तो फगुनहटा नहीं है। तबतक मेरे मन में एक बात आई। यदि यह हवा हमारे यहाँ की है तो इसका नामकरण भी हमारे जनपदों में ग्राम-वृद्धों द्वारा हुआ होगा। प्रकृति में दो दिन तक ऐसी बड़ी घटना हो और हमारे पृथ्वी-पुत्र पूर्व पुरखाओं ने उसे न पहचाना हो, यह हो नहीं सकता। सौभाग्य से उस समय मेरे साथ एक पुरबिया गोंडे जिले का चपरासी था। मैंने उससे उस हवा का नाम पूछा तो उसने बताया, 'साहब, यह फगुनहटा है।' इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण शब्द

और इसके अर्थ के साथ मेरा परिचय हुआ। मन कहता है कि संस्कृत साहित्य में भी कहीं इसका वर्णन मिलेगा। नाम भी संस्कृत से निकला जान पड़ता है। जब कहीं इसका वर्णन मिल जायगा तब एक गांव मिल जाने जैसी प्रसन्नता होगी। तो इस वाक्य को ठीक यों छाप दीजिएगा—आज नवचेतना के फगुनहटे ने राष्ट्रीय कल्पवृक्ष को झकझोर कर पुराने विचाररूपी पत्तों को धराशायी कर दिया है।

दूसरा शब्द पंचायतनी है (इस पंचायतनी प्रासाद की दृढ़ जगती में सभी भाषाओं और बोलियों के सुगढ़ प्रस्तरों का स्वागत करना होगा) इसे 'हिन्दुस्तान' ने पंचायती और 'स्वतंत्र' ने पंचायनी छापा है। यह शब्द तो मैं पिछली देवगढ़-यात्रा में बुन्देलखण्ड से ही लेकर लौटा। पं० माधवस्वरूप वत्स (पुरातत्त्व विभाग, आगरा के सुपरिण्टेण्डेण्ट) ने इसका प्रयोग उन मंदिरों के लिये किया था, जिनके चार खूँटों पर चार छोटे मंदिर हों, जिनमें प्रधान देव के अतिरिक्त अन्य देवों की मूर्तियां समन्वयात्मक दृष्टि से स्थापित रहती थीं। स्वयं देवगढ़ का विष्णु मंदिर पंचायतनी था। इस प्रकार का देवमन्दिर समन्वय का एक सुन्दर प्रतीक था।

उसी भाव को लेकर इस शब्द का प्रयोग उपरोक्त वाक्य में मैंने किया था। विराट् पर्व के श्लोक को छापने में भी 'माहेयी' (गाय) 'महिषी' (भैंस) हो गया है। ठीक पाठ यह है—

सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायनी।

मैं यहाँ दो एक संकेत भी स्पष्ट कर देता हूं। लुधियानी के उच्चारणों का अध्ययन डा० बनारसीदास ने The Phonetics of Ludhiani में किया है। काश्मीर के हरमुकुट पर्वत पर बैठकर डा० सर ऑरल स्टाइन ने एक पुस्तक (Tales of Hatim—हातिम की कहानियां) के रूप में लिखी है, जिसमें काश्मीरी कहानियों का लोकभाषा में संग्रह है………। दरद देश की बोली की पहचान और उसका अध्ययन

डा० ग्रियर्सन के जीवन का मुख्य विषय था । मुंजानी और इश्काश्मी बोलियों का रोचक अध्ययन कुछ विदेशी भाषा-शास्त्री कर चुके हैं [देखिए संजन-स्मृति ग्रन्थ, पृ० २२१ The Iranian Hindu-kush dialects called Munjani and Yudghi; तथा Grierson's Linguistic Survey, Specimen Translations of North-West Frontier] ये गल्चा भाषाएं वंक्षु नदी के उपरले प्रदेश में हिन्दूकुश के उत्तर बोली जाती हैं। मुंजानी मेरी राय में व्याकरण का मौञ्जयन है, जिसका नडादिगण (४। १। ९९) में पाणिनि ने उल्लेख किया है। पाणिनि सूत्र ५। ३। ११६ (दामन्यादि त्रिगर्त पष्ठाच्छः) के अनुसार यह एक प्राचीन आयुध-जीवी संघ (लड़ाकू कबीला) था, वहाँ के नागरिक मौञ्जायनी कहलाते थे और शार्ङ्गरवादिगण के अनुसार वहाँ की स्त्रियां मौञ्जायनी कहलाती थीं।

'इश्काश्मी', सम्भव है, व्याकरण-शास्त्र का 'इषुकामशमी' हो जिसका नाम कई बार उदाहरणों में आया है । इससे यह प्रतीत होता है कि इन जातियों के साथ हमारे पूर्वजों का परिचय बहुत पुराना था ।

यहाँ अवध-साहित्य परिषद् बनाने की बात सोची जा रही है।

अभिन्न—

वासुदेवशरण

पुनश्च—

गुप्तजी आए और उनसे भी जनपद-आन्दोलन के सम्बन्ध में बातचीत हुई। हमारी सम्मति में विरोध इस कार्य की प्रगति में बाधक होगा। इस आन्दोलन को शुद्ध सांस्कृतिक रखना अत्यावश्यक है । पृथक् प्रान्त निर्माणरूपी राजनीतिक पहलू अभी बिलकुल न उठाया जाना चाहिए, अन्यथा आपका उद्देश्य खटाई में पड़ जायगा। इस विषय का सांस्कृतिक पक्ष स्थायी महत्त्व का है। इस समय सब विवाद स्थगित करके उसी को पुष्ट करना चाहिए। बुद्धिमानी यह है कि हम जितनी भूमि को जोत सकें, उतने में ही हल चलावें ।

सत्येन्द्रजी के पत्र का अवतरण भी पढ़ा। मैं वस्तुतः उनकी विचार-

धारा के मूल को अभी तक नहीं समझ पा रहा हूँ कि हिन्दी का हित-विरोध कहां हो रहा है। हिन्दी का क्षेत्र एक और अखण्ड है। उसमें कार्य-पद्धति के साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, द्वैराज्य, भौज्य सभी प्रकार एक साथ प्रयुक्त हो रहे हैं और होंगे। कार्य अनेक प्रकार के हैं। कार्य के अनुसार व्यवस्थाएं भी अलग-अलग होंगी। खड़ी बोली की दृष्टि से, राष्ट्रीय भाषा के विकास और स्वरूप की दृष्टि से, वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से, हिन्दी का साम्राज्य एक है। जनपदी बोलियों के कार्य के लिये उसी क्षेत्र में स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता है, उस के बिना कार्य-विभाजन हो ही नहीं सकता और न वैज्ञानिक रीति से काम ही सम्भव है। बिना स्थानीय केन्द्रों के स्थानीय कार्यकर्त्ता कैसे मिलेंगे? साहित्यिक मूल प्रवृत्तियों के स्फुरण के लिये हमारी भाषा में वैराज्य चाहिए। अनेक केन्द्रों में, अनेक मानसों में अनगिन्त साहित्यिक प्रेरणाएं वैसी ही जन्म लेंगी जैसी अरण्य में वृक्ष-वनस्पति। उनमें जो स्थायी मूल्य के हैं वे बचे रहेंगे, शेष काल-चक्र में विलीन होते रहेंगे। वनस्पति-जगत् में भी वर्ष-वर्ष और युग-युग पर विशरण और छँटाव चलता रहता है। हिन्दी और उर्दू का या हिन्दी और शेष प्रान्तीय-भाषाओं का द्वैराज्य भी चलता ही रहेगा, परन्तु पारस्परिक हित-बुद्धि से और अान्योन्य उपकार के लिये। भिन्न-भिन्न साहित्यिक दलों और गुटों का भौज्य-शासन भी, जिसमें उनके नेता ऐश्वर्य का भोग और नियन्त्रण करने में स्वतंत्र होंगे, रहेगा ही। इस तरह साहित्य के विशाल जगत् में भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं का समन्वय देखने की आंख हमें अभी से उत्पन्न करनी चाहिए। ऐसे देव-तुल्य पवित्र और उदार कार्य के विरोध का मूल कारण तो किसी प्रकार से बनता ही नहीं। हाँ, कार्य की शुद्ध सांस्कृतिक मूल भित्ति से कभी अपने आपको हटने न दीजिएगा।

अभिन्न—

वासुदेवशरण

१८—५—४२

(४)

लखनऊ
८—६—४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

जनपद-सम्बन्धी कार्य के विषय में आपकी भक्ति देखकर मैं वास्तव में चकित होगया हूं। आपने अपने परिश्रम की हवि डालकर इस पुनीत कार्य को कई कदम आगे बढ़ा दिया है। सम्मेलन ने इस कार्य की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार कर लिया है। यह भी शुभ लक्षण है। उपसमिति के सदस्य सब बड़े योग्य और सुलझे हुए सज्जन हैं। आशा है, उनके द्वारा किसी ठोस कार्य का सूत्रपात्र किया जा सकेगा। सबसे बड़ी आवश्यकता कार्य को वैज्ञानिक पद्धति से संचालित करना है। जनपदीय कार्य को एक सरल पर क्रियात्मक रूपरेखा हम सबको मिलकर पहले प्रस्तुत करनी चाहिए।

संसार में जो कुछ भी विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित है, उससे परिचय प्राप्त करने का हमारे उदीयमान राष्ट्र को अधिकार है। यह तो आन्तरिक स्वास्थ्य का लक्षण है कि हमारी भूख इतनी प्रबल हो उठी है, हमारी जिज्ञासा की परिधि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। यह शुभ चिह्न है। ऐसे समय में हमें अपने केन्द्र को भी भरपूर टटोलना चाहिए। अपने केन्द्र का पर्यवेक्षण ही जनपदों का कार्य है। अपनी महिमा को हम जितना अधिक जानेंगे, उतना ही बाहिरी महिमा से परिचित होने की क्षमता हममें बढ़ेगी। अन्यथा भय है कि हम भटैती के गड्ढे में न गिर जावें। आपके पत्र का एक वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगा, मैंने इसे कई बार पढ़ा 'The Principal aim of my life is interpretation of what is best among other people'। इसके 'other people' शब्द में विश्व-भुवन समाविष्ट है। वेद के शब्दों में कहिए तो ब्रह्म के आधे हिस्से से विश्वभुवन पैदा हुआ और जो दूसरा आधा बचा, वह उसके अपने आपका प्रतीक था—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान । योऽस्यार्धः कतमः स केतुः ॥

बस यही समन्वय हमें इष्ट होना चाहिए। 'other people' या विश्वभुवन एक अर्धांश में और 'our people' या हमारा लोक-जीवन दूसरे अर्धांश में, तभी हमारे रथ की गति निर्दिष्ट स्थान तक पहुंच सकती है। 'त्रयाणां धूर्त्ताणां' वाली साहित्यिक शैली में इसी महंगे तत्त्व को कहना चाहें तो यों कह लीजिए —

अर्धेन भीमो अश्नाति अर्धेन सर्वे पांडवाः ।

सर्व पांडवों में 'विश्वभुवन' और भीम के आधे भागधेय में हमारा अपना समाज, अपना जनपद और अपना लोक। आइए इसी सुनहले समन्वय का हम इस मंगल प्रभात में आवाहन करें।

शुभेच्छु—
वासुदेवशरण

(५)

लखनऊ
११—६—४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

जनपदीय कार्य और प्रान्त-निर्माण का आन्दोलन बिलकुल पृथक् बातें हैं, उनका संकर किसीका हित नहीं कर सकता। इस समय राग-द्वेष से ऊपर उठ कर प्रशान्त उदात्त भाव से लेखनी पकड़ना बहुत ही आवश्यक है, नहीं तो वर्षों की ईप्सित साधना विफल हो सकती है। सत्य स्वयं अपने तेज से चमकता है, अतएव यदि हमारे कन्धों पर शांत और विवेकी मस्तिष्क पूर्ववत् स्थिर रहेगा तो यह भ्रम-जाल स्वयं ही शीघ्र मिट जाएगा।

आपका—
वासुदेवशरण

(६)

लखनऊ
२३–८-४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

जनपदकल्याणी योजना आपको पसन्द आई, इससे सन्तोष हुआ। कवि ने कहा है—"प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः।" जैसे योजनान्त की टिप्पणी में लिखा है, इस ओर सम्मेलन की उपसमिति को विचार करना चाहिए।

१६–८-४३ के पत्र के विषय में निवेदन है कि विकेन्द्रीकरण शब्द के साथ कोई विग्रह न ठान कर मैं आपकी इस बात को मान लेता हूँ कि कोई शब्द अपने आप में न तारक है न मारक। हमारे मनोभावों का अमृत और विष उन्हें चाहे जो बना दे। विकेन्द्रीकरण शब्द कुछ विशेष संस्कार लेकर हमारे साहित्य में आया, इसीसे उसमें मुझे आशंका थी कि कहीं विरोध की मात्रा को बढ़ा न दे। जनपदीय कार्य वैसे तो अनेक केन्द्रों में फैल कर करना ही पड़ेगा। योजना का सार भी यही है। अतएव यदि आप विचार के उपरांत उस शब्द को निरापद मानते हों तो मुझे कुछ भी मत-भेद न होगा। पर हमारा प्रधान मंत्र तो 'जनपद' शब्द ही है। यह विधानात्मक है, नकारात्मक भावना से नितान्त अछूता। यदि अपने इस पवित्र शब्द को ही हम अपनाते रहें और बराबर उसीके गौरव को बढ़ाते रहें तो देखना यह है कि हमारा पूरा कार्य चल सकता है या नहीं। जनपदीय कार्य या 'जनपदकल्याणीयं' का अर्थ अत्यन्त विचारने पर बहुत विस्तृत मालूम होता है। वेद के जैसे ऋत-सत्य हैं, वैसे ही हमारे जीवन के जानपद क्षेत्र और पौर-क्षेत्र हैं। ऋत सर्वव्यापक, अरूप, अमूर्त, अनिरुक्त तत्त्व की तरह है। यही जानपद जीवन का अमर एकरस रूप है। सत्य मूर्त, परिमित और प्रकट है। यही पुरवासी का जीवन होता है। पौर-जीवन समय-समय पर

जानपद जीवन के साथ सम्पर्क में आने के लिये उमंगता है। गुप्तकाल की पौर-संस्कृति के बाद ऐसा ही एक युग आया था, जब अपभ्रंश भाषा का पूजन हुआ। मुसलमानी कालमें जीवन नगरोंकी ओर केन्द्रित हुआ। आज हम पुनः अपना जीवन जनपदोंके साथ मिलाने को निकले हैं। यह हमारे इतिहास की स्वाभाविक परम्परा के अनुकूल है। कला, साहित्य, उद्योग-धंधे, यंत्र, यावत् जीवन के विस्तार में जनपदीय रूप का आकर्षण हमारी आंखों में बस रहा है। पौर-जानपद जीवन के उचित और बुद्धिमानी से किए हुए समन्वय में ही इस समय देश और जाति का कल्याण छिपा हुआ जान पड़ता है। लोक-गीतों का संकलन, खादी की प्रीति, ग्रामोद्धार के कार्यक्रम देखने-कहने में भिन्न-भिन्न हैं, पर सबका जन्म एक ही दार्शनिक भूमिका से हुआ है। जनपदों की इस भक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, इसे वे मित्र भी देखेंगे जो आज इस काम से शंकित जान पड़ते हैं। हम सब समान शील और व्यसन वाले 'सखा' हैं। ऋग्वेद में कहा है कि ज्ञान के क्षेत्र में—अर्थात् संस्कृति के जगत् में—सत्यमय सखाओं का प्राप्त करना भी एक बड़ा सौभाग्य है। उन्हींके पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति, सौमनस्यता एवं समाधिपूर्ण चिन्तन से शाश्वत मूल्य के कार्य आगे बढ़ा करते हैं।

'मानव' को अपने पूज्य आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिये ही हमारे प्रयत्न हैं। मैं तो इस विषय में वेदव्यास के मानव-केन्द्रिक दर्शन का अक्षरशः भक्त हूँ। (Homo-centric view, man at the centre of universe)

'व्यास' शीर्षक लेख में इसे लिख चुका हूं। व्यास का यह श्लोक सोने के अक्षरों में टांकने योग्य है—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।'

(शान्ति पर्व १८०।१२)

'यह रहस्य ज्ञान या भेद की बात तुमको बताता हूँ कि मनुष्य

से बढ़कर यहाँ अन्य कुछ नहीं है।' व्यास का यह मानव-केन्द्रिक मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान की खोज-पद्धति और सामाजिक अध्ययन में सर्वत्र फैलता जारहा है। मनुष्य को ऊँचा उठा कर ही हमारी सारी क्रियाएं और साधनाएं—कला, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान—ऊँची उठेंगी। मनुष्य यदि हमसे आदर न पा सका तो हमारे उच्च सम्मान-भाव का पात्र विश्व में और कौन निकलेगा ?

आपका—

वासुदेवशरण

(७)

लखनऊ

२४-१०-४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका के विशेषांक 'विक्रमांक' में मैं इतना व्यस्त रहा कि आपको जनपद-साहित्य या कार्य के संबंध में कुछ न लिख सका।

सत्येन्द्रजी जनपदों की पृथकता से सशंक हैं। परिस्थिति कितनी निष्ठुर है कि उनको हिंदी के एक दूरस्थ जनपद के गढ़ में ही ले जा कर बंद कर दिया—मध्यदेश की उछलती गंगा-यमुना की धाराओं से एकदम दूर![1] सहानुभूति का सरस पत्र उनको लिखना न भूलिएगा। मरुस्थल में गए व्यक्ति को मध्यदेश की इस सरसता की कितनी आवश्यकता रहती है, इसका कुछ ज्ञान जातकों के पढ़ने से है।

जम्मू के डा० सिद्धेश्वर जनपदीय परिवार के नए सदस्य हुए हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भाषाविद् हैं। स्वभाव के प्रशान्त, आर्य-भावों से युक्त, नवयुवकों जैसी स्फूर्ति से सम्पन्न। मुझे दिसम्बर १९४१ में हैदराबाद (दक्षिण) में उनके दर्शन मिले थे। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए। वस्तुतः वे गम्भीर पुरोधा हैं। उन्होंने जम्मू से ६० मील दूर अपने एकान्त साधना स्थान

---

१ सत्येन्द्रजी आगरे से नवलगढ़ (जयपुर) कालिज में चले गए थे।

'आनंद आश्रम' से सरस सहृदयता से भरा हुआ जो पत्र भेजा था, उसकी एक प्रतिलिपि आपको मैंने अभी भेजी है, मिल गई होगी। उनको भी आज ही मानो एक महीने की समाधि से जागकर जो पत्र लिखा है उसका एक खोखा आपको भेजता हूँ। आज तो साहित्यिक मित्रों के मानस-मिलन का पर्व है। मेरा मन भी एकादशी व्रत के द्वारा आज रस-तृप्त है। वह देखिए, लाहौर से श्री देवेन्द्रजी सत्यार्थी का पत्र २६ सितम्बर का आया हुआ है, उनको भी उत्तर जा रहा है। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के निमंत्रण को स्वीकार करते हुए ३० अक्टूबर को साहित्य-सदन चिरगांव में उनके दर्शन करने की सूचना अभी भेजी है। ३१ को मोठ में कुछ शिला-लेख देखने हैं।

सत्यार्थीजी जनपद-कार्य के आद्य ऋषि हैं। उन्होंने जीवन की साधना के जल से इस कार्य की जड़ों को दूर तक सींचा है। मथुरा में एक मास तक उनके साथ रहकर उनकी साधना से मैं परिचित हो चुका हूँ। उनके पैरों का रथ सारी धरती पर फिर आया है। वे हमारे जनपद-जगत् के सच्चे चक्रवर्ती हैं।

मैं विकेन्द्रीकरण शब्द के प्रयोग से आपको सजग करना चाहता था। मैं देखता हूँ आपके अन्य हितू मित्र भी वैसे ही विचार के हैं। जनपदीय कार्य की आवश्यकता उसका महत्त्व, उसकी उच्चता, उसकी प्राणदायकता, उसकी हित-साधकता के विषय में हम सब प्रायः एकमत ही हैं। मैं आपके अथक परिश्रम, घनीभूत उत्साह की कहां तक प्रशंसा करूं। भवभूति के शब्दों में 'हृदयस्त्वेव जानाति' का यह विषय है। आपने ही इस कार्य को आन्दोलन का रूप दिया और आप ही के बल पर उसके प्रचार की रीढ़ सधी हुई है। चन्द्रबलीजी को जो आपने लिखा है कि हमें जनता को 'विचार करने और अपने परामर्श उपस्थित करने का मौका देना चाहिए, यही ठीक भाव है। अभी तो हमारे समाचार-पत्रों को अपनी बहुत-सी सुविधाएं इस कार्य के लिये देनी हैं;

अनेक संपादकों को अपनी लेखनी घिसनी पड़ेगी, कितने ही लेखकों को मस्तिष्क की उधेड़-बुन इस काम में खर्च करनी पड़ेगी, अनेक भाषणों में इस सन्देश की व्याख्या करनी होगी—तब इस महानाद का सम्मिलित घोष सिंधु और ब्रह्मपुत्र के बीच की अगणित प्रजाओं तक पहुँच पाएगा; और इन सबसे बढ़कर आवश्यकता होगी—किसी तपस्वी दधीचि के अपनी हड्डियों को इस काम में गलाने की। बिना तप के कोई महान् कार्य आज तक पूरा नहीं उतरा। यह सृष्टि का नियम है। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका अनुशासन है।

श्री पं० अमरनाथ झा अपनी व्यवहार-निपुणता के लिये विख्यात हैं; यह बड़ा लाभ है कि वे भी आपके जनपद-कार्य के साथ हैं। डा० सिद्धेश्वरजी का मूलपत्र अनुवाद के साथ 'मधुकर' में छापने योग्य है। वह हम सबके लिये उत्साहप्रद प्रमाण-पत्र है। उससे हमें ज्ञात होता है कि हमारा मार्ग ठीक है और बाहर के टकसाली विद्वान् भी उसको आशीर्वाद देते हैं। यह बात हिन्दी के साहित्यिकों को जाननी चाहिए।

यहीं पर एक विषयान्तर आगया। क्षमा कीजिए। मेरी धर्मपत्नी अपने बच्चे विष्णु को एक कहानी सामने बैठी सुना रही थी। उसमें से 'काग-उड़ावनी' मेरे कानों में पड़ा। मुंदे कान जैसे खुले। मैंने पूछा कि यह क्या कहानी है तो नाम बताया, 'झनझन गुड़िया' और कहा कि भृगु (विष्णु का बड़ा भाई) कहता था कि यह कहानी मधुकर में निकल चुकी है।

मैंने कहानी का पिछला भाग अभी सुना। उसमें यह गाथा आई है जो उसकी पूरी वस्तु (प्लॉट) की सूचक है—

रानी ही सो बांदी हो गई,

बांदी ही सो रानी।

बारह बरस तक सुरदा, से के हठाया दुःख। तब भी न पाया सुख॥

मुझे भी याद है 'व्रज भारती' में श्रीमती यशपाल व्रज की ठेठ बोली में इसी मूल ठाठ से विकसित एक कहानी 'चांदी की चतुराई' लिख चुकी हैं। संभवतः यह किसी प्राचीन जैन कहानी से अवलम्बित है; क्योंकि इसमें राजा के देशान्तर में व्यापार करने के लिये जाने और जहाज लादने का वर्णन आता है। अनुमान होता है कि अवदानों के युग में गुप्त-काल में जब द्वीपान्तरों से हमारा जीता-जागता संबंध कहानी-साहित्य में जुड़ा तभी इस कहानी की मूल रचना हुई होगी, जो लोक में आज तक जीवित है—असंख्य बालकों का मनोरंजन करने के लिये। बड़ा आनन्द होगा, जब इसका मूल कहीं मिल जायगा। 'नेक और बद' दूसरी कहानी का मूल मुझे भविष्यदत्ता कथा नामक जैन ग्रन्थ में मिल गया था। उसपर एक लेख मैंने कई महीने पहले भेजा था। आशा है मिला होगा, उसे मधुकर के किसी अंक में छापिएगा।

विनीत—

वासुदेवशरण

(८)

यात्रा में

पो० कालसी (देहरादून)

१७—११—४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

रात के १० बजे हैं। यमुना की वेगवती धारा सामने बह रही है। उसकी कल-कल ध्वनि बरबस अपनी ओर ध्यान खींचती है। प्रकृति का कैसा सुन्दर क्रीड़ास्थल इस उपत्यका की गोद में है। यह स्थान प्रियदर्शी महाराज अशोक के परम पावन शिला-लेखों से पवित्र हुआ है। जहां लिख रहा हूँ। इस स्थल से १०० गज़ की दूरी पर सम्राट् के पवित्र शब्दों से अंकित वह शिलाखण्ड है, जिसके दर्शन से मन दो दिन से

बहुत प्रफुल्लित है। कल और आज उन लेखों को मूल पाषाणीय संस्करण में पढ़ता रहा हूं और उस उदारमना देवानां प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् की जनपद-कल्याणी हितबुद्धि से प्रभावित होकर मुझे बहुत ही आनंद प्राप्त हुआ है। कालसी यमुना के दक्षिण तट पर स्थित है। यह जौंसार प्रदेश के पश्चिमी छोर पर है। कालसी से लाखामंडल तक प्राचीन यमुना-प्रदेश था, जिसके मुकुट पर यामुन पर्वत के शुभ गिरि-शिखर हैं, जिन्हें आज बन्दर-पूँछ कहते हैं और वहां जमनोत्री के हिमगलों से यमुना की पराक्रमशालिनी धारा बही है। अपने पितृगृह में यह यमुना कितनी छविधारिणी है। गोलमटोल गंगलोढ़ों के साथ कल्लोल करती हुई, इसकी जल-धारा कितनी निर्मल है। इसके उत्संग में भरी हुई धूप कितनी मनोरम है! इसके प्रेक्षागृह में मन को सुख देने वाला कितना सौन्दर्य है! करोड़ों वर्षों से इस यमुना ने हिमखण्डों की द्रावक-शक्ति से हिमाद्रि को पीस-पीस कर हमारे लिये धरित्री का निर्माण किया है। सामने यमुना के तट पर पानी की चरखी से चलने वाली एक घराट है। वह मानो यमुना की महाघराट का ही एक रूपक है। युग-युगों तक के लिये यमुना की भगीरथ घराट में अथक विक्रम की कुंजी भरी हुई जान पड़ती है। जिस युग में हमारे पूर्वजों ने यमुना के तट पर आकर अपने रथ को विश्राम दिया, तब से यमुना के साथ हमारा राष्ट्रीय सख्य-भाव स्थापित हुआ और उसके अमिट अंक आज तक अशोक की ब्राह्मी-लिपि की तरह उज्ज्वल हैं। सचमुच यमुना के पराक्रम की महिमा उसके गात की निराली आभा की तरह मन को खींचती है। पर्वतों के उतार-चढ़ाव में झरनों और गधेरों की सैर करते हुए ५० मील की पैदल यात्रा के बाद परसों रात यहां आया।

जनपदीय जीवन के साथ हमारे परिचय का विस्तार एक राष्ट्रीय महत्त्व की समस्या है। जनपदीय साहित्य का कार्य भी उसीका एक अंग है। मेरी समझ में हमारे भावी जीवन के पचास वर्षों का दिक्‌मंत्र जनपदीय कार्य में समवेत है। जानपद जन के दर्शन के विषय में आज

प्रातःकाल ही महाराज अशोक के श्रद्धाभाजन शब्द पढ़े हैं। वस्तुतः राष्ट्र के जानपद जन का समग्र दर्शन, आत्म-दर्शन की तरह पवित्र, व्यक्तिगत रागद्वेष से अतीत, हमारे बहुमुखी जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित, अत्यन्त मंगलास्पद कार्य है। इस खान की सान्निध्य में जो आ सकेगा, वही इसके अनमोल कोष को पहचानेगा।

जनपदीय साहित्य का कार्य स्वयं प्रतिष्ठित, स्वयं मंडित और स्ववीर्य गुप्त है। उसको हिंदी जगत् को अयाचित सहायता आज प्राप्त हो अथवा दस वर्ष बाद, इससे उस कार्य के महत्त्व और गौरव में राई बराबर भी अन्तर नहीं पड़ता। सम्मेलन यदि जयपुर के अधिवेशन में अपने पिछले प्रस्ताव को वापिस फेर ले तो इससे मुझे तनिक भी क्षोभ न होगा। सत्य का दर्शन स्वयं एक महाशक्ति है। जो साहित्यिक इस महाशक्ति को देख सकता है, उसे किसी बाहिरी प्रेरणा की टेक नहीं चाहिए। हां, जो सत्य को देख सके हैं वे यदि उसकी उपासना में कातर हों तो सत्य प्रहत होगा।

श्री सत्येन्द्रजी मेरे अभिन्न मित्र हैं। उनका सौहार्द मेरे प्रति गंगा के निर्मल जल की तरह शुद्ध है और मेरा प्रेम उनके प्रति कामधेनु के दूध की तरह निर्विकार है। 'वाक्-संयम और भाव-शुद्धि' ये दो उपदेश प्रियदर्शी अशोक ने विभिन्न सम्प्रदायोंकी सम्मनस्कता और एकता के लिये कहे हैं। साहित्यिक जगत् में भी इनकी आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि श्री सत्येन्द्रजी का सोचना और लिखना एक शुभ लक्षण है। सत्य का जो पक्ष हमें नहीं दिखाई देता, उसके प्रति हमें सचेत करने के लिये यह ईश्वरी प्रेरणा उनके हृदय में उत्पन्न हुई है। यदि प्रारम्भ में ही जनपद-साहित्य के आन्दोलन को सब ओर से भद्रंभद्रं का स्वागत मिल जाता तो संभवतः उसकी आयुष्मत्ता कम होती। जितना ही आन्दोलन का विरोध होगा, उतना प्रचंड इसका वेग बढ़ता जाएगा। विरोध से यह कार्य अवश्य आयुष्मान् होगा, ऐसी मेरी धारणा है। हमारे जीवन की अवधि अल्प और परिमित है; परन्तु गंगा

और यमुना की वारि-धाराओं से प्रोक्षित ये महाप्रजाएं अनन्त जीवन वाली हैं। इनमें अमरता है, क्योंकि हमारे आकाश में उदित होने वाले सूर्य ने किरणों से नित्य अमृत बरसा कर हमारी पृथ्वी पर रहने वाली प्रजाओं को अमर बना दिया है। इन अमर प्रजाओं के जीवन से संबंध रखने वाला जो कार्य है, वह हमारे अल्प-जीवन से कहीं अधिक स्थायी है। यह संभव है कि हमारे कंठ की क्षीण सरस्वती अभी दूर तक न सुनाई दे, पर सत्य का घोष जब एक बार सुनाई पड़ने लगता है तब जन्म-जन्म की बधिरता दूर हो जाती है। जब जानपद जन के जीवन-काव्य का संदेश हमारे साहित्यिक सुनेंगे, तब साहित्यिक जलों का वेग ऐसे बह निकलेगा जैसे इन्द्र के वज्र से चूर्णित मेघों से मूसलाधार वृष्टि। सत्य महान है। उसकी तुलना में व्यक्तिगत मत और वाद 'पिनाक पुराने' हैं। वे टूट जाएं तो इसमें शोक की क्या बात होगी? यदि हमारा ही मत भ्रान्त है तो भी सत्य को तो उद्घाटित होना ही चाहिए। उसके उद्घाटन का श्रेय तो उन्हीं मतिमानों को होगा जो इस समय विरोध में लिखते दिखाई पड़ रहे हैं। श्री सत्येन्द्रजी को मैं अपनी समस्त सदाशाएं भेजता हूं। ईश्वर करे उनकी लेखनी में और अधिक तेज और बल हो। हिंदी मातृभाषा का हित ही तो हम सबको इष्ट है। जिस प्रकार हिंदी के अक्षय-भंडार की वृद्धि हो, जिस प्रकार हिंदी के साहित्यिकों में पारस्परिक सुमति और वरद बुद्धि से कार्य करने की अभिलाषा उत्पन्न हो, वे ही सब मार्ग हमें भी मान्य हैं। ईश्वर न करे किसी प्रकार हमारे द्वारा ज्ञान में अथवा अनजान में हिंदी-मातृभाषा के स्थायी हित की हानि हो। अतएव आइए, वाक्-संयम और भाव-शुद्धि की सहायता से साहित्यिक सत्य जिस प्रकार हमें दृष्टिगोचर हो, उसी प्रकार उसकी उपासना करते जाएं। ऋजु भाव सत्य है, कुटिलता अनृत है। ऋजुता अमृत और जिह्मता मृत्यु की ओर ले जाती है। यदि हम सब एक स्वर से ऋजुता की उपासना करते रहेंगे तो अवश्य ही हमारा साहित्य अमृत-पद को

ओर अग्रसर होगा। जीवन में जो सत्य और अमृत है, उसीकी प्राप्ति के लिये तो साहित्य का भी द्वार खुला हुआ समझना चाहिए।

आशा है, आप जनपद-साहित्य का अलख जगाने में पूर्ववत् धीर और अविचल बने रहेंगे।

आपका—
वासुदेवशरण

(६)

कालसी
ब्राह्ममुहूर्त्त १८-११-४३

जनपदीय साहित्य के आन्दोलन की रूपरेखा को अभी और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। उसको निश्चित वैज्ञानिक पद्धति से विकसित करके उसमें कर्तव्य-कर्म की सामग्री को भरने की आवश्यकता है।

ज्यों-ज्यों यह विषय स्पष्ट होगा, कार्यकर्त्ता पारस्परिक अभिप्राय को समझ सकेंगे। यह असम्भव है कि गांवों में एवं जनपदों में बिखरी हुई साहित्य-सामग्री और अक्षय्य शब्द-सम्पत्ति को एकत्र करके हिन्दी-कोष में भरने की बाबत किसी भी सहयोगी को मतभेद हो।

नगरों के जीवन का जो उज्ज्वल पक्ष है और जनपदों में जो अकृत्रिम स्वभाव, अपनापन एवं देश की तथा जनता की पारम्पर्यक्रम से आई हुई संस्कृति का सुरक्षित अंश है, उन दोनों का मेल हो जाना चाहिए। यही सत्येन्द्रजी के चाय और मेवा का मणिकांचन योग है। चाय नगरों की प्रतीक और मेवा हमारे जनपदों की मीठी प्रतिनिधि है। यहां जौंसार के प्रकृतिगुप्त अंतःपुर में अखरोट के कितने वृक्ष हैं! दस दिन तक उन्हें तोड़-तोड़ कर उनकी मिश्री-सी स्वादिष्ट गिरी का हमने परिचय प्राप्त किया है और उसी तरह जौंसारी संस्कृति और भाषा की मेवा का स्वाद भी चखने को मिला है।

यहां पहाड़ में लकड़ी के विशाल प्रासाद-निर्माण और नक्काशी की प्राचीन कला की परम्परा अभी तक बनी हुई है। देवदारु के सरल स्कंध वाले महावृक्ष हिमवान् के दिग्गज-पुत्रों की तरह उसके उन्नत अधित्यका-प्रदेशों में भरे हुए हैं। मार्ग में चलते हुए बार-बार रघुवंश का कवि हमसे पूछता हुआ जान पड़ता है—

"अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्री कृतोऽसौ वृषभध्वजेन।"

सामने खड़े हुए इस देवदारु के वृक्ष को देखते हो? गिरिराज के अधिष्ठातृ देव शिव को यह पुत्र की भांति प्रिय है। ४० से ६० हाथ तक प्रांशु शरीर वाले तथा २० से २५ हाथ तक के घेरे से युक्त इनके भव्य काय को देखकर कौन सहृदय प्रमुदित न होगा? इनकी छतनार शाखाओं के नीचे कितनी सघन छाया है। मान्यात के आनन्दीगिरि निर्झर ने शताब्दियों से जिन्हें पोषित किया है, उन विशाल देवदारुओं के दर्शन से हम भी रस-तृप्त हुए। ये महान् वनस्पति हिमालय के वरदानों की तरह यहां के निवासियों के लिये सहज प्राप्त हैं। उनके चन्दनवर्णी सारवान् काष्ठ को पाकर भी यदि यहां के निवासियों ने देवदारुओं के साथ अपना परिचय न बढ़ाया होता तो हम उन्हें कितना मूठल समझते? अब तो अपने आवासों के रोम-रोम को उन्होंने मानो देवदारुमय बना रखा है। दो आंट वाले खंभों पर मेहराबदार दरों की पंक्ति वाले बरामदों की रचना अत्यन्त मनोहर है। घरों में, कमरों में, दीवारों में, तीन-तीन इंच मोटे और चौबीस इंच चौड़े देवदारु के तख्ते लगे हुए देखकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

लाखामंडल में पैर रखते ही जिस वस्तु ने सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित किया वह देवदारु का विशाल भवन था। उसमें ३०-३२ हज़ार की लागत लगी बताई जाती है। उसके थंभों पर और उनके बीच में लगी हुई, आड़ी तख्तियों पर (जिन्हें प्राचीन काल में सूची कहते थे और यहां अटाली कहा जाता है) बने हुए फूल-पत्तियों के

साज को देखकर हमें बरबस गुप्तकालीन पत्र-लता के कटाव और अभिप्रायों (motifs) की याद आ गई। नक्काशी के लिये यहां 'उकेर' शब्द जीवित है। संस्कृत के 'उत्कीर्ण' का यह सगोता वंशज है। इस 'उकेर' को समझने के लिये हमने स्थानीय कारीगरों की तलाश की। सौभाग्य से लाखामंडल गांव का ही परमा बढ़ई हमें गुरुवत् मिला। सौहार्द से हमने उसका स्वागत किया और उत्सुकता के पात्र में हम उससे शब्दों का दोहन करने लगे। परमा के साथ का वह घंटा बड़ा कामदुघ सिद्ध हुआ। लगभग ५० पारिभाषिक शब्द हाथ लगे। परमा जानपद जन का सरल प्रतिनिधि था; अक्षर-ज्ञान से उसे सुरक्षित रखकर जनपद ने अपनी संस्कृति की उसके द्वारा रक्षा की है और उसके प्रवाह को आगे बढ़ाया है। परमा आज भी चतुर्दल और षट्दल कमलों के फुल्लों को 'सुरुज नरायन के फूल' कह कर उसी मनोभाव से उकेरता है। जिस गहरी रुचि से उसके गुप्तकालीन पूर्वज उनमें सौंदर्य की सृष्टि करते थे। अपने उन विचक्षण कला-रसिकों के वंशज आज एक हम हैं, कला की परख से सब तरह कोरमकोर!

जनपदों का संसर्ग क्या हमारे ही अपने पुनर्जीवन के लिये आवश्यक नहीं है? उसके प्राण-प्रद वायु में कितना जीवन-रस भरा हुआ है! पुर और जनपद दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता है। ईश्वर करे, दोनों का गाढ़ परिचय आने वाले युग की विशेषता हो और पारस्परिक कल्याण का साधक बने।

आपका—

वासुदेवशरण

(१०)

लखनऊ
२२—११—४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

आपका 'प्रवृत्ति' के समय निवृत्तिसूचक[1] पत्र मिला। क्या आप प्राण को मेट कर शरीर को खड़ा रखना चाहते हैं ? जब विषम आया है, तब यह कश्मल कैसा ? क्या भगवान् के इस वाक्य का मर्म अर्जुन के लिये आपसे अधिक था ? मैं क्या कहूँ—लिखूँ ? सूत्ररूप में 'नैतत्त्वयि उपयुज्यते' याद आता है। जो धीर है, वह अमृत की ओर बढ़ता है। विरुद्ध के लेख नश्वर हैं, ऐसा जानकर अपने अमृत कल्प जनपदकल्याणीय अलख को और भी अधिक निष्ठा से जगाते रहना चाहिए।

नकारात्मक शब्द विपरीत भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। विकेन्द्रीकरण की पहली प्रतिक्रिया के समय मैंने भी और श्री सत्येन्द्रजी ने भी आपको यही लिखा था। आप कृपया एक वर्ष के लिये इस शब्द के प्रयोग को स्थगित रखिए। जनपदों के स्वतन्त्र जीवन से हिन्दी के अखंड साम्राज्य को केवल बल मिल सकता है, भय नहीं। हममें से कौन हिंदी का भक्त नहीं है ! जनपद-साहित्य की खोज हिंदी के अहित के लिये नहीं है। यह तो मातृ-भाषा हिन्दी को चारों ओर से समृद्ध करने का एक प्रयत्न है। सूर्य के समान तपते हुए इस सत्य के साथ कौन खिलवाड़ कर सकता है ?

श्री चन्द्रबली और माखनलालजी के विचार भी पढ़े। जनपद-साहित्य के विमर्श का आन्दोलन स्वयं हिमवान् के समान ऊँचा है। उसको दूसरों के कंधों की अपेक्षा नहीं। सम्मेलन इसके महत्त्व को

---

[1] श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने जनपद-समिति से इस्तीफा दे दिया था।

समझने के लिये यदि अभी अधिक समय चाहे तो इसमें खेद की क्या बात है ? इससे सत्य असत्य नहीं बन जाता। जो सत्य के उपासक हैं, उनका विश्वास जिस दिन चूर हो जाएगा, उस दिन सत्य की हानि होगी, अन्यथा नहीं। जयपुर में हरिद्वार का प्रस्ताव रहे चाहे जाय, यह एक छोटी नगण्य घटना है। कार्य का क्षेत्र प्रस्ताव की पेटी में कब बन्द हुआ है ? आपने 'मधुकर' के द्वारा जो किया है, वह न करते तो प्रस्ताव कहां-का कहां होता ?

आपका—

वासुदेवशरण

(११)

लखनऊ

२४—११—४६

प्रिय चतुर्वेदीजी,

आपके १६--२० और २१ के तीन पत्र मिले। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की तरह जिनमें भविष्य के लिये जन्म-स्थिति और संहार का रूप एक साथ देखा। मेरी दृष्टि में जनपदकल्याणीय और 'सेतुबंध'[1] एक ही रथ के दो पहिए हैं। घर में जो धन गड़ा है, उसको भी पहचानो और ढूँढ़ निकालो, यह जनपदकल्याणीय सन्देश है। बाहर से धन लाकर घर का कोष भरो, यह सेतुबंध है। अपने में जो 'विभूति' और 'श्री' का पक्ष है, उसपर दृष्टिपात करो और अन्यत्र जहां पद्माश्री के सौन्दर्य का निवास है, वहां से उसका आवाहन करके अपने निवास को अलंकृत करो। यदि मैं आपके अभिमत को ठीक समझा होऊँ—जैसा कि मेरा विश्वास है—तो जनपदकल्याणीय और सेतुबन्ध दोनों ही हमारे साहित्य की प्रगति के लिये अनिवार्यतः आवश्यक हैं। 'हिन्दी-साहित्य के समग्ररूप' लेख में मैंने यही तो कहा है। इस सन्देश को हमारे मित्र भली प्रकार समझ लें। ऋजु-दर्शन के बाद संकर का भय हट जाता

[1] श्री बनारसीदास चतुर्वेदीजी का एक लेख।

है। बाहर से आने वाले ज्ञान का कपाट, हाथी के मस्तक की चोट से जैसे दुर्ग का द्वार तोड़ा जाता है, ऐसे खोल दीजिए। पर जिस कोठार में उस ज्ञानरूपी महार्घ कोष को संचित रखना है, उसकी भी पूरी पैमाइश हो जानी चाहिए। बाहर से एक साथ यदि कुबेर-कोष आकर फट पड़े तो अकिंचन क्या उस धक्के को संभाल सकता है? वह तो उसके भार से लड़खड़ा जाएगा। अन्तःसारवाला व्यक्ति ही बाहर के सार को पचा सकता है। कवि ने मेघ के लिये ठीक ही कहा है, "रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।" रीता हलका, भरा भारी होता है।

हम बाहर से भोजन की सामग्री ला सकते हैं, पर भूख हमारी ही होगी। हम बाहर से खाद ला सकते हैं, पर हमारी अपनी भूमि उपजाऊ होनी ही चाहिए। बंजर में खाद भी किस काम की होगी? यहां तो किसी एक व्यक्ति के विचारों का प्रश्न नहीं है। किसी एक क्षुद्र प्राणी की चाहत और अनचाहत की बात स्वप्न में भी नहीं आती, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। मैं स्वयं क्या हूँ? जायसी के शब्दों में 'अहुठहाथ तन सरवर'[1] का एक नमूनामात्र, जिसमें उछलता जल भरा है। ज्ञान का प्रचण्ड सूर्य इतना प्रतापी है कि उसकी गर्मी यदि केन्द्रित (Focus) होकर इस सरोवर के जल पर पड़ जाय तो वह भक् से एक क्षण में उड़ जा सकता है। ऐसे खुद्दक निकाय या क्षुद्र शरीर वाले व्यक्ति के अहं का एकदम कहीं कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि मेरे विचार हिन्दी के लिये अहितकर हों तो मुझे ब्रह्महत्या का पातक लगना चाहिए। मैंने नई ज्योति में पुरानी बातों को देखने का कुछ अभ्यास किया है अतएव इन मर्यादाओं को बिना हिचकिचाहट के मानता हूँ। ब्रह्म या ज्ञान हमारे निजी व्यक्तित्व से कहीं अधिक महान् है। ज्ञान हमारा आचार्य है, हम सब शिष्य हैं। अथर्ववेद के शब्दों में हमें अपने लिये केवल आयु चाहिए, पर अपने आचार्य के लिये अमृतत्व—अमरत्व चाहिए:—

---

१ साढ़े तीन हाथ का शरीररूपी सरोवर।

'आयुरसमासुधेहि । अमृतत्वमाचार्याय'

हम जिएं, पर ज्ञान अमर हो! इसीमें कल्याण है! ऐसे श्रेष्ठ, वरिष्ठ, गरिष्ठ, महिष्ठ, वसिष्ठ आचार्य के लिये पंचधा प्रणाम हो। अब आइए, हम सब एक ही व्रत से साहित्य-सेवा में प्रवृत्त हों। अपने महान् आचार्य के लिये अपने स्वरों में जय-जीव का नाद भर कर इस पद से हम सबके स्वर संवादी होंगे, विसंवादी नहीं। फिर सरगम के सप्तकों में चाहे जिस स्वर से अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार हम बोलें। स्वरों का साम्य (Symphony) जीवन-वर्धक है। उनका वैषम्य शक्ति के क्षय का कारण। अन्तरात्मा की प्रेरणा से, ऊँचे पद से आप या सत्येन्द्रजी या मैं या हमारे एक-सौ-एक बंधु जो करेंगे, वही हितकर होगा। जब मनुष्य यह प्रार्थना करता है कि हम श्रुत या ज्ञान के साथ संमनस्क (In harmony) हों, उसके साथ विरुद्ध भाव में न पड़ें तो वह अनेक भूलों से बच जाता है—भगवान् के प्रसाद से। प्राचीन ज्ञान के साधक यही कहते और चाहते थे:—

'सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि'

हिन्दी एक जीवित राष्ट्र की जीवित भाषा है। उसके अभ्युदय का काल अब आया है। उस अभ्युदय की रूपरेखा देवों के द्वारा पूर्व निश्चित हो चुकी है। हम आप तो देवलोक की उस वाणी को मूर्त्त रूप देने के साधनमात्र बन सकते हैं।

कृतज्ञ होऊँगा यदि सत्येन्द्रजी को भी इस पत्र में साझीदार बना सकूँ।

आपका सुहृत्—
वासुदेवशरण

(१२)

लखनऊ
२१—१२—४३

प्रिय चतुर्वेदीजी,

इधर कार्य में बहुत अधिक संलग्न रहने के कारण आपके सुन्दर

विशेषांक'[1] की पहुंच भी न लिख सका। इस महीने में इसी कारण विशेष अवकाश नहीं निकाल सका कि जनपद कार्य पर कुछ लिखता। जनपदकल्याणी योजना पर लिखने की बात मन में है। वह मानसिक भूमि पर बराबर बढ़ रही है। आशा है, किसी दिन प्रवृद्ध सत्य-सम्पत्ति के साथ प्रकाशित हो सकेगी। अथर्व वेद का पृथिवी सूक्त (१२।१।१-६३) पृथिवी पुत्रीय भावना का आदि स्रोत है। उसके अध्ययन से अनमोल सामग्री मिली है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में सबसे पहले पृथिवी-सूक्त के ६३ मंत्रों का अध्ययन करा देना चाहिए और सामूहिक रूप से उसे कंठ कराना चाहिए। राष्ट्र-संवर्धन की सब योजनाओं और भावनाओं का वह सूक्त अक्षय्य स्रोत है। किसी पूर्व युग में सुन्दरी सूर्या के विवाह-महोत्सव में अमर्त्य देवों ने जिस कमल की गंध को उत्पन्न किया था, उसे आप आज फिर सूंघना चाहते हों तो पृथिवी सूक्त को देखिए।

आपका—
वासुदेवशरण

(१२)

लखनऊ
२३—१—४४

प्रिय चतुर्वेदीजी,

सत्येन्द्रजी की ग्राम-योजना पढ़ी। ईश्वर को धन्यवाद है कि साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य के संबंध में उनका कोई मतभेद नहीं है। 'जनपद' शब्द को लेकर कुछ खींचतान इधर हिंदी में हुई है। मुझे इस शब्द से बिलकुल भय नहीं लगता। प्राचीन ग्रन्थों में जो अनेक जनपदों के नाम हैं, वे सब देखे जाएं तो कुछ जनपद जिलों के बराबर

१ 'मधुकर' का बुन्देलखंड प्रांत निर्माण अंक।

होंगे, कुछ आजकल की कमिश्नरी-जैसे। महाजनपद कुछ-कुछ प्रांतों का रूप भी धारण किए हुए हैं। राजनैतिक पहलू और पार्थक्य के भाव की ओर हमें कुछ नहीं कहना। हमें तो जनपदों में बसने वाली जनता की भाषा और संस्कृति का अध्ययन करके हिन्दी-भाषा के भंडार को भरना है, और उस जनता को आत्म-स्मृति करानी है। जनता निस्सन्देह गांवों में ही बसती है, अतएव जनपदों का अध्ययन ग्रामों का ही अध्ययन है। पर जनपदों का विभाजन ज़िलों के बटवारे की तरह आज भी मौजूद है। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता प्राचीन काल से रखता आया है। उससे भयभीत न होना, उसे स्वीकार करना और फिर समग्रता या एकता के भाव की प्रधानता रखना ही हमारी विशेषता होनी चाहिए। क्या प्रान्त-विभाजन से देश की समग्र एकता किसी प्रकार से भी निर्बल कही जा सकती है? ऐक्य का भाव तो मातृभूमि के प्रेम में है। जो भूमि को माता कहें, वे सब उसके पुत्र हैं। मेरी दृष्टि में जनपदों के नामकरण और सीमाओं का निश्चय इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कुछ मित्र समझते हैं। मैंने 'केदार-मानस' नाम कार्य की एकता के लिये लिखा था। सत्यार्थीजी ने केदार और मानस कर दिया तो इसमें भी मौलिक आपत्ति नहीं आ जाती। ग्रामों में बसने वाली जनता की दृष्टि से साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्य का आरंभ होना चाहिए—शेष विवाद स्वयं शांत हो जाएंगे। वेदान्तियों के शब्दों में 'वाचो विग्लापनं हि तत्' अर्थात् जनपदों के नानात्व के कारण कार्य के स्वरूप के विषय में ही भड़क जाना, वाणी का मुरझाना है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—आइए, नाना भावों की उलझनों से बचकर वास्तविक कार्य में लगें। तभी वसंत में खिले हुए शंख-पुष्पी के श्वेत पुष्प के हास की तरह हमारी वाणी का भी विकास होगा।

आपका—

वासुदेवशरण

(१४)

लखनऊ
१०-३-४४
चैत्र कृष्ण १

प्रिय चतुर्वेदीजी,

इस समय प्रकृति की शोभा वर्णनातीत है। अभी डेढ़ मास प्राचीन अहिच्छत्रा के उत्संग में रह कर लौटा हूँ। पट-मंडपों से बना हुआ जो हमारा छोटा-सा आवास था, उसके चारों ओर मधुलक्ष्मी ने अपना सौंदर्य बखेर दिया था। आम्र-मंजरी, वट-किसलय, सहँजन के सहस्रात्मक पुष्पगुच्छक, आँवलों की फल-सम्पत्ति, शाल्मली के लाल-लाल फूलों के मधु-कोष, कर्णिकार के पुष्पों की आभा, इन सबसे परिचय पाकर अन्तरात्मा गद्गद् हुई। मैंने भगवान् को धन्यवाद दिया कि हमारे वनों पर अभी तक वसंत की अधिष्ठात्री देवी पद्माश्री का पहले जैसा वरद हस्त विद्यमान है। हम सो गए पर वन-देवी जागती रही। हमारे जीवन में सौन्दर्य के प्रति जागरूकता का भाव लुप्त हो गया; परन्तु वन-श्री रोम-रोम में उस पुष्कल सौन्दर्य को धारण किए रही जिससे किसी दिन उसके उदार दर्शन को पाकर फिर हम आत्म-चैतन्य को प्राप्त कर सकें। वन-लक्ष्मी की रमणीयता को जब हम पहचानने लग जाएंगे, तभी हमारे नेत्रों में लोक के निरीक्षण की पैनी दृष्टि फिर से उत्पन्न होगी। आसे के सुन्दर श्वेत पुष्प के पात्र में जो एक मधुबिंदु संचित है, उसका संदेश क्या मधुमक्खिका के अतिरिक्त मानव के लिये नहीं है! सेमल की ओर से रंगबिरंगे प्रसन्न पक्षियों को जो मधुपान का निमंत्रण मिल रहा है, उसमें अपना भागधेय जिस दिन हम पहचानने लगेंगे उसी दिन हम अपनी भूमि के प्रति नए संबंध से आनन्दित होंगे। पलाश के लाल फूलों में, स्वर्णजूही के पीताभ प्रसूनों में, गेहूं के पौधों की परिखा में बैठने वाले मक्खन फूलों में कितना आनन्द है, इसको पहचान करने के लिये हमें स्कूल और कालेजों को एक सप्ताह के लिये बंद करके दल-बल समेत वन-

प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए। वसंत के आगमन से सारा पक्षि-जगत् प्रसन्न है। जंगल उनके सुरीले कंठ-गान से रमणीय हो उठा है। इस उल्लास को लिए हुए वसंत का दक्षिण वायु मधु-श्री का संदेश साथ लेकर बह रहा है। यह संदेश नवचैतन्य का संदेश है, नव जागरण-मंत्र है, प्रकृति के साथ अभिनव परिचय का निमंत्रण है। भूमि के साथ अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का नूतन आमंत्रण है। इसमें संदेह नहीं कि शीघ्र ही हम सब उदीयमान राष्ट्र की ओर से प्रकृति के चरणों में अपना अर्घ्य चढ़ाएंगे। उसके द्वारा हमारा साहित्य, हमारा जीवन, हमारा चिन्तन विदेशी प्रभावों से पराङ्मुख होकर और अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर फूलने-फलने लगेगा। आज सब ओर इसके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। गांव और शहरों के बीच में जो बनावटी भेद हमने डाल दिया है, उसे दूर हटाना होगा। ग्रामों के जानपद जन को सम्मान के नए पद पर बैठाना होगा। उसके द्वारा जितना हम फिर से सीख सकते हैं, उसका स्वागत करना होगा। और सीखने की सामग्री कितनी अधिक है, यह तत्त्व दिन-प्रति-दिन स्पष्ट होता जा रहा है। कम-से-कम गुप्त काल तक की परंपराओं को हम अपने गावों से प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये पैनी आंख वाले साहित्यिक कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता है। जिस क्षेत्र में देखें वहीं भरपूर सामग्री मिलती है। प्राचीन अहिच्छेत्र में रहते हुए, एक पास के गांव में शिवरात्रि का बड़ा मेला देखने गए। वहां बर्तन-भांडों का अच्छा बाजार था। काली रेखा-उपरेखाओं से सजे हुए बर्तनों के नाम, उनकी सजावट के लिये पारिभाषिक शब्दों का जो संग्रह हम करने लगे तो कितने ही प्राचीन शब्द मिले। रामनगर के चिम्मन कुम्हार ने बताया तो मालूम हुआ कि Painted Pottery के लिये अभी तक 'लिखना' शब्द है। 'लिखने' में कुम्हारी कुम्हार से अधिक चतुर होती है और वही रंग और कांविस बना कर बालों की पूंछरी या उंगली के पोरों से रेखा काढ़ने या धार खींचने का काम करती है अथवा भांडों को लिखती है। इस प्रकार कितने ही मधुर अनुभव

प्राप्त करके अहिच्छत्रा की खुदाई से २९ फरवरी को लौटा।

'मधुकर' में जानपदी कहानियां खूब अच्छी निकल रही हैं। नवम्बर में चिरगांव गया था। वहां 'गणेशशंकर विद्यार्थी पुस्तकालय' के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री हरगोविंदजी ने बुन्देलखंडी कहावतों का अच्छा संग्रह बटोरा है। उसे क्रमशः 'मधुकर' में छापिए। गुप्तजी को उसका पता है।

आपका—
वासुदेवशरण

(१५)

लखनऊ
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, २०००
२२-८-४३

प्रिय देवेन्द्रजी,[1]

बहुत दिन बाद आपने कुशल-पत्र दिया और मन को कुछ काल के लिये आनन्द से भर दिया। मथुरा की पुरानी स्मृतियां हरी हो गईं। आप जैसे मित्र की याद समय-समय पर करना मन का धर्म ही बन गया है। खुले आकाश और बहती हुई हवा की तरह आप देश के किसी भाग में होंगे, मुझे तो आपका ऐसा संस्कार अब बन गया है। आपके पृथिवी-पुत्र रूप के यह अनुकूल है, एवं आपके—और मेरे दोनों के लिये प्रिय और हितकर भी। इस विशाल देश में देखने और जानने की इतनी सामग्री है कि सौ-सौ वर्ष की कई आयु यदि ऋषि के 'भूयसीः शरदः शतात्' की ओट में हम प्राप्त कर लें तो भी सहृदय रसिक का मन कभी भर नहीं सकता। अनेक प्रकार के जन-समुदाय, नाना स्वरों की वाणियां, विचित्रता से भरी हुई प्रकृति की गोद में लालित-पालित उसके अनेक पुत्र जिन्हें हम तृणलता, वृक्ष-वनस्पति कहते हैं—इन सबके साथ सौहार्द का भाव लेकर विचरने वाले विश्वामित्र-

[1] श्री देवेन्द्र सत्यार्थी (लाहौर) के नाम पत्र

रूपी साहित्यिक को हर जगह आनन्द का सोता बहता हुआ मिलेगा। आप इसी प्रकार के एक विश्वामित्र हैं, जिनका हृदय सार्वजनीन सख्य भाव से उमंगता रहता है।

जनपदों के कार्य के प्रति हमारी स्वाभाविक भक्ति है। यह मेरे बालपन के संस्कारों का विकास है। प्राचीन साहित्य के साथ जो मेरी तन्मयता और परिचय की काष्ठा बढ़ी, उसका पर्यवसान जनपदकल्याणीय साहित्यिक कार्य में ही मुझे दिखाई दिया। इस कार्य को सम्पन्न किए बिना हिन्दी के साहित्यिकों की झोली रीती रहेगी और पृथिवी में दूर तक तो उसकी जड़ें जा ही नहीं सकतीं। अपना 'पृथिवी-पुत्र' लेख भेजता हूँ। शायद 'जीवन-साहित्य' में आप इसे पढ़ भी चुके हों। इधर मैंने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ सोचा है। धीरे-धीरे उसे लेख-रूप में उतार रहा हूँ।

सम्मेलन में पास हुए प्रस्ताव की पृष्ठ-भूमिका आपने खूब लिखी। शायद उसको प्रस्ताव तक सीमित रखने के लिये आज तक सम्मेलन से उस सम्बन्ध की कुछ भी सूचना मुझे नहीं मिली, यद्यपि उपसमिति में मेरा नाम रखा गया जान पड़ता है। यदि निजी पत्रों में बनारसीदासजी उसकी विस्तृत चर्चा करके बात को आगे न बढ़ाते तो मुझे शायद उसका पता भी न चलता और बात वहीं समाप्त हो गई होती। अस्तु, अब तो समानशील और सदृश चिन्तन वाले मनुष्यों को मिलकर कुछ उद्योग करना ही चाहिए। आप भी हम लोगों के साथ इसी नाव पर हैं। साथ ही क्यों, नाव का गून अपनी कमर से बांध कर उसको बहुत पहले ही खींच कर ले चलने वाले धीर नाविक का रूप आपका ही है। मैं लिख चुका हूँ कि आप जैसे सौ सत्यार्थी हों, तब कहीं जनपदों में व्याप्त सामग्री की शत-सहस्री संहिता को कुछ कुछ एकत्र कर सकेंगे। मूसलाधार रूप में सामग्री बरस रही है, साहित्यिक रस, शब्द, भाषा, ध्वनि किसीका भी तो पारावार नहीं है। एक-एक जनपद कार्य-कर्त्ताओं के लिये एक-एक प्रजातंत्र का रूप रखता है, जिसका नागरिक बनकर

हिन्दी का कर्मठ-साहित्यिक अपने विशाल उद्योग से उस ज्ञानराज्य का सभापति बन सकता है। आज ही एक धान के खेत की सैर करके लौटा हूँ। जन्माष्टमी सफल समझी। क्योंकि कितने ही धानों के और उनमें होने वाले 'लमेर' और 'झरंगा' दानों के नाम प्राप्त किए हैं। प्रत्येक धान का पौधा छोटे-छोटे रोओं की सुतिया-हँसुली पहने खेत में इतरा रहा है और चाहता है कि उसके उस आभूषण की प्रशंसा करने वाला कोई उसके पास पहुंचे। सारी अष्टाध्यायी पढ़ने पर भी पाणिनि के 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' सूत्र में 'व्रीहि' और 'शालि' का भेद आज से पहले कभी समझ में नहीं आया। धान और जड़हन का भेद 'व्रीहि' और 'शालि' का भेद है। कुँआरी और अगहनी दो फसलों का भेद 'व्रीहि' और 'शालि' का अन्तर है। इस प्रकार जितना अधिक जानने का प्रयत्न करता हूँ, मेरे अज्ञान की थाह उतनी ही बढ़ती जाती है। हम साहित्यिकों को अवश्य ही 'पृथिवी-पुत्र' बनने की एक नई दीक्षा लेनी चाहिए।

आपने विस्तार से अपने विचार लिखने का न्यौता दिया है। इसके लिये मैं अपने दो पत्रों की प्रतिलिपि आपको भेजता हूँ, जिससे आप जान सकेंगे कि कार्य की दिशा और क्षेत्र क्या हो सकता है।

पहले पत्र में सम्मेलन के प्रस्तावानुसार निश्चित जनपदीय कार्य की पंच-वार्षिकी योजना है। दूसरे में मैंने यह सोचने का प्रयत्न किया है कि जो साहित्यिक जनपदों की पगडंडियों में भटकना नहीं चाहते उनके लिये भी करने योग्य कार्य का स्वरूप कितना बवंडर है। यदि किसी साहित्यिक परिषद् में मेरे पास मनमाने कार्यकर्ता और अर्थ-सम्पत्ति हो तो मैं बता सकता हूँ कि खड़ी बोली के माध्यम से कितना साहित्यिक कार्य किया जा सकता है। संक्षेप में हमारे साहित्यिकों को अपनी ही छाया से भड़कना उचित नहीं। कार्य के क्षेत्रों का विभाजन करके पारस्परिक सहानुभूति और सद्भावना से 'ऋतु चिंतन' करने की आवश्यकता है। 'ऋतुता' ही अमृत का पद है। हमारे जिन मित्रों को इस प्रकार कार्यक्षेत्र की परिधि के विस्तृत हो जाने से हिंदी की सुन्द

२।३७

धारा के अनहित की आशंका है, उनको प्रेम और श्रद्धा के साथ समझाना हमारा कर्तव्य है। हिंदी-हित के हम सभी हामीं हैं। उसमें कहीं से भी कमी आई तो हम सबकी हानि है। मुझे यह बात सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट जान पड़ती है कि बिना जनपदीय जीवन को साथ लिए, हमारा साहित्यिक जीवन प्राण-रस के लिये छटपटाने लगेगा।

आपने लिखा है कि 'विकेन्द्रीकरण' में आपको स्वयं सबकी सब भलाइयां साफ-साफ नज़र नहीं आरही हैं। मैं स्वयं भी इस नए शब्द का, जिसने हमारी भाषा में पहले-पहल राजनैतिक परिधान ओढ़ कर प्रवेश किया, स्वागत करने में कुछ हिचकिचाता हूँ। मैंने चतुर्वेदीजी को यह बात लिखी थी। उसका उत्तर उन्होंने इस शब्द की महत्ता और पवित्रता समझा कर दिया है। शब्दों के विवाद में मेरा मन रमता नहीं। इस-लिये इस क्षेत्र में अपने नाखूनी पंजों को आज़माना नहीं चाहता। हमें तो जनपदकल्याणी कार्य चाहिए। यह शब्द ही क्या हमारे लिये पर्याप्त नहीं है? यह अवश्य मनाना पड़ेगा कि जानपदी भाषाओं का पृथक-पृथक् क्षेत्र अब भी अस्तित्व में है; वहां ही कार्य का क्षेत्र बनाने में सुविधा होगी। पर प्रयत्न सब कार्यकर्ताओं का यही होगा कि अपने देश में बसने वाले जन के समग्र अध्ययन से विशाल हिंदी-साहित्य की गोद कैसे भरी जा सकती है। सार तो कार्य में है। अनेक यूरोपीय विद्वान् दूर देशों में बैठ कर हमारी बोलियों का प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। हमारे लिये उचित यह है कि यथाशक्ति मृदुता के साथ इस कार्य के आन्दोलन को बढ़ाते रहें और अपनी शक्ति को एक केन्द्र पर लगा कर योजना के अनुसार कुछ ठोस काम करके दिखावें। ग्रियर्सन (Grierson) की एक 'बिहार पेजेन्ट लाइफ़' (Bihar Peasant Life) कितने ही विवादों के मुँह में धूल डाल देती है। करनी और कथनी का भेद कौन नहीं जानता? अतएव मैं चतुर्वेदीजी से नम्रतापूर्वक अनुरोध करने जा रहा हूँ कि वे चाहें जिस शब्द को चुनें, पर विवाद को उत्पन्न न होने दें।

डेल कार्नेगी ने लिखा है कि 'मुझे जीवन में अभी ऐसे आदमी के दर्शन करने हैं, जिसे विवाद के द्वारा मत-परिवर्तन कराने में सफलता मिली हो।

आपका सानुराग—
वासुदेवशरण

(१६)

लखनऊ
२४-१०-४३

प्रिय पंडितजी,[1]

आपके २९-९-४३ के आचार्य-संदेश और आशीर्वचनरूपी पत्र को पाकर और पढ़कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। एक महीने तक लगभग उससे रस-ग्रहण करता रहा। ऊँचे धरातल से लिखे हुए भावों में ऐसी ही सात्विक पोषण-शक्ति होती है। आपका पत्र कार्यकर्त्ताओं के लिये रस का एक सोता है। उसमें बड़ा पवित्र सारस्वत जल भरा है। जो वहां तक पहुंच चुके हैं, वे ही उसकी मिठास से आनन्दित होंगे। मुझे यह सच जान पड़ता है कि साहित्य के क्षेत्र में समान चिंतन करने वाले सखा एक-दूसरे के कार्य को सद्भावना के द्वारा बहुत बल दे सकते हैं। ऋग्वेद के इस वाक्य में कितनी सत्यता है—

"अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।"

यों तो जीवन के हर क्षेत्र में समान गुण-शील वाले सखाओं को प्राप्त करने की आवश्यकता है, पर धर्म, संस्कृति, साहित्य के क्षेत्र में तो सखाओं की सहानुभूति एक सात्विक प्रेरणा बन जाती है। एक जैसे ध्यान के जो धनी हैं, उनसे ही सफलता के साथ गहन विचारों का ऐसा भावावेश मिल सकता है जैसा आपने अपने पत्र में दिया है।

१ डा० सिद्धेश्वर वर्मा (काश्मीर) के नाम पत्र

आपने पन्द्रह वर्ष तक जानपदी भाषाओं का अध्ययन किया है। उनमें शब्दों की जो बहुरूपी प्रखर अर्थ-शक्ति है, उसकी ओर आपका ध्यान गया है। जिस मनचीते ढंग से जनपदीय शब्द मनोभावों को कह सकते हैं, वह बात संस्कृत की लठिया टेक कर चलने वाली हमारी इस बोझिल पद्धति में कहां आ सकती है? देहात की यात्रा भाषा-विज्ञानी के लिये तीर्थ-यात्रा की तरह फलदायिनी होती है। नए-नए शब्दों की बालें मानवी कंठरूप धान-जड़हनों से बाहर निगर-निगर कर चारों ओर अपने झंपा-झूलन से मन बहलाती हुई दिखाई पड़ेंगी। कनक-जीर की तरह के उन दानों में जिन्हें भाषा का दूध जमा हुआ दिखाई पड़े वे एक एक शब्द को पाकर धन्य हो जाएंगे और बटोर कर थैली में भरने लगेंगे। कभी-कभी एक घंटे की जनपद-यात्रा या साहित्यिक तीर्थ-यात्रा से इतना फल मिला कि महीनों के लिये मन आनन्द से भर गया। वहां नए शब्दों की नई शक्ति का परिचय मिलता है। एक बार सुना—

"भुइयां लोट चले पुरवाई। तब जानो बरखा ऋतु आई।"

जेठ के दूसरे पखवारे मे जब पुरवइया भुइयां-लोट, धरती में लोटती हुई, धूल उड़ाती हुई, बिरवा-रूखों को झकझोरती हुई चलती है तब मानो बरसात आने की सूचना मिलती है। इसमें भुइयां-लोट शब्द की काव्यमय ध्वनि से मन विह्वल हो जाता है। जनपदीय पारि-भाषिक शब्दों का उद्धार बहुत आवश्यक है। ठेठ शब्दों से सार-गर्भित वाक्यों का संकलन साहित्य की चीज होगी। जैसे 'जब फागुन में फगुनहटा या हऊका चलता है, तब जो नाज गलेथ रहा हो, उसमें हऊका लगने से उसका दाना पिच्ची हो जाता है।' पौधे के गले में बाल आजाने को नाज गलेथना कहते हैं। उसे ही अवधी के कुछ भागों में 'रेंडब' या 'गलिआउब' क्रिया से व्यक्त करते हैं।

'बिहार पेजेन्ट लाइफ़' में ग्रियर्सन का काम बहुत अच्छा है, पर जो काम हुआ उससे सैकड़ों गुना वह कार्य है जो अनहुआ पड़ा है। एक-एक बात के लिये बोलियों में कैसे-कैसे ढाले हुए वाक्य और

टकटक-टकटक करते हुए शब्द हमारे-आपके परिचय की बाट जोह रहे हैं। बहुत काल के बाद नगर के निवासी गांवों में जाकर वैसे वहां के जानपद जन का कुशल संवाद पूछ रहे हैं। उनके आपसी मिलन से जो अमृत-रस बरस रहा है, जीवन में एक नया माधुर्य आगया है, ठीक वैसा ही कुछ दिव्य आनंद गाँव के चोखे और नए प्रत्ययों के बहुरूपी वेष धरने वाले शब्दों का अपने साहित्य में स्वागत करने से हमें प्राप्त होगा। हिंदी के कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों का जो नाती-परनातियों वाला बहुत भारी कुटुम्ब है, उसकी जन संख्या के लिये हमें देहातों के ठेठ अभ्यन्तर में निस्संकोच पैठना होगा। जहाँ हमारी दृष्टि अबतक जाकर रुक जाती थी उससे बहुत दूर अपनी-अपनी छोटी मड़ैयों में चैन की बंसी बजाते हुए प्रत्यय हमको मिलेंगे। काली-काली आँखों वाले, देखने में सुन्दर, काम में चोखे, स्वभाव में धीर किसानों के बैल जो उसके प्राणों के साथी और दुःख-सुख के सखा हैं, हमारा स्वागत उन मड़ैयों के पास पहुंचने पर जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार जनपद की बोलियों के मैदानों में किलोल करने वाले शब्द और प्रत्ययरूपी कलोर बछड़े हमको अपनी ओर खींचते हुए मिलेंगे। उनके साथ नए परिचय से हमारे भाषा-ज्ञान को नया जीवन-रस मिलेगा। बउनी (खेत बोना), मड़नी (दाँय चलाना), पछिवा (पछुवा वायु) गुठलिहा (गुठली के आकार का धान का मोटा दाना), छउहरा, फागुन का फगुनहटा, उतरिहा, दखिनहा, पुराहो (पुरवा मोट की सिंचाई), चदरियान्हान (वह गंगा-स्नान, जिसमें एक चादर भर की हल्की सरदी हो)—शब्दों के जो नए कृदन्त और तद्धित प्रत्यय हैं, उनकी ठीक पूछ ताछ होनी चाहिये। संभव है पूरा काम इन एक ही विषय पर यदि कोई विद्यार्थी करे तो आप उसके परिश्रम को डॉ० लिट् के योग्य मान लें। रिवेटिंग (रिविट ठोंकना) जैसी क्रिया के लिये देहात में अकस्मात् शब्द मिल गया 'ठरना' (बतरी को कुदारी पर रखकर माला से जड़कर ठहराना)। रसोद के फाउंटेनपेन के लिये शब्द मिला ढोंटिया (सं० स्फटिक)। इसी तरह आपने जो शब्द पूछे हैं, उनके लिये भी

भाषा में अलग-अलग नाम हैं। कान की लोय (कर्ण-नाशिका); कमर की पुट्ठी या कूल्हा (Lower portion of the back); दूध जमावनी, (जिसमें रात को दही जमाने के लिये दूध रखते हैं); त्रिलोवनी (मथानी) आदि कुछ ज्ञात हैं। बाकी ढूंढने होंगे। श्री कत्रे जी (डेकेन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट) की ओर से मराठी-भाषा पर बहुत अच्छा, इसी ढंग का कुछ कार्य करा रहे हैं। कार्ड इन्डेक्स के ढंग पर उनकी चिटें बन रही हैं। हमारे साहित्यिक जगत् में भी जानकार काम करने वाले चाहिएं। उनके लिये काम करने की पद्धति क्या हो, इसे आप सदृश विचारशील और अभिज्ञ विद्वानों को लेख और पुस्तकों द्वारा बताना होगा। इसमें मेरा ज्ञान बहुत परिमित है। मुझमें एक उत्साह है, इस उत्साह के साथ सद्भावना है, इसकी आवश्यकता मुझे प्रत्यक्ष दीखती है। यदि हमने जनपदीय कार्य को न अपनाया तो हमारी प्रगति के हाथ-पैर मारे जाएंगे—ऐसा मुझे दीखता है। मेरी समझ में यह आने वाले महान् युग का धर्म है। इतिहास की प्रचण्ड विकास की रूपरेखा इस कार्य की ओर प्रेरित कर रही है। गुप्त-युग की अतिशय नागरिक संस्कृति के बाद जब साहित्य में गति अवरुद्ध हुई, तब नए उत्साह से लोग गांवों की ओर मुड़े और वहां से अपभ्रंश साहित्य और भाषा का नया स्रोत प्राप्त किया, जिससे हमारी हिन्दी-भाषा का भी जन्म हुआ है। कुछ वैसी ही बात इस समय है। हमलोग भूमि से इतने उखड़ गए कि सांस लेने के लिये छटपटाने लगे। प्रगति का द्वार अवरुद्ध होने से कल्पना की काया क्षीण होने लगी। भाषा की शैली में, कविता में, निबन्ध में सर्वत्र दरिद्रता ने घर कर लिया। हमें अब सामूहिक चिन्ता है कि किस प्रकार हमारी साहित्यिक श्री हमें फिर प्राप्त हो। इस प्रयोजन के लिये हमारे पास वहां से निमन्त्रण आया है, जहां भूमि का मीठा दूध प्रतिवर्ष सूर्य की किरणों से दही जम कर जौ-गेहूँ के अरबों दानों से हमारे कोठारों को लक्ष्मी से भर देता है। इसी क्षीर सागर में हमारा साहित्यिक विष्णु सोया हुआ है। उसके पास

हमारी साहित्य-श्री विराजमान है। वहां से उसका आवाहन करना हमारी साहित्यिक दीपावली का सन्देश है। जब हमारे कोष इन नए शब्दों से भरने लगेंगे, साहित्य के कोठारों में कैसा नवमंगल दिखाई पड़ेगा। वेदों में भूमि को 'महीमाता' (The Great Mother) कहा गया है। वह सब भूतों की धात्री है, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति सब उससे जन्म पाकर फूलते-फलते हैं। वही 'सर्वलोक नमस्कृता' मातृभूमि साहित्य की भी जननी है। शीघ्र ही हमारे साहित्य को भूमि के साथ अपना संबंध जोड़ना चाहिए। भूमि का कूड़ा-करकट भी खाद बनकर उसकी उपजाऊ शक्ति को बढ़ाता है। इसी तरह साहित्य में जो 'फूहड़ (slang) कहकर त्यागा हुआ है, वह भी भाषा-विज्ञान की नई योजना में साहित्य-क्षेत्र की उर्वरा शक्ति पुष्ट करने वाला होगा।

आपने जो लिखा है कि अपनी कुटिया से बाहर निकल कर, जब हम शब्दों की खोज और संग्रह करेंगे, तब लाखों नए शब्द हमें मिलेंगे, यह बात बहुत आनन्द और बल देने वाली है। साहित्य का 'कुटी-प्रावेशिक' रूप हमने अबतक पाला-पोसा है; अब धूप और हवा में बाहर निकल कर उसके 'वातातपिक'[1] रूप का भी परिचय पाना चाहिए। आपने जो इन शब्दों का पता पूछा है, इसके लिये कृपया देखिए, (चरक संहिता. चिकित्सा-स्थान. अध्याय १, श्लोक १६)। जान पड़ता है कि पृथिवी और आकाश के बीच में जो महान् अवकाश है वह इसी सामग्री से भरा हुआ है। ऋग्वेद में कहा है—

ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे। ऋताये धेनू परमे दुहाते ॥

साहित्यिक ऋत के लिये मानो पृथिवी-आकाश अपना मुँह फैलाए खड़े हैं, साहित्यिक ऋत-दोहन के लिये ही हमारे ध्यान की परम धेनुएँ अपनी अमृत-वर्षा कर रही हैं। साहित्यिक का जो रूप व्यापक है, वह ऋत-पदार्थ से संयुक्त है; जो केन्द्र में घनीभूत हो गया, वह सत्य है।

---

[1] चरक के अनुसार इसका दूसरा नाम 'सांपमारुतिक' है: और हवा अर्थात्, धूप वाला।

ऋत के साथ ही विस्तार का भाव है। ऋत सौम्य और सत्य आग्नेय हैं। नवीन स्फूर्त्ति और कल्पनाओं की जननी ऋत-भूमि है।

मैं इस बात से सहमत हूं कि हिन्दी-भाषा को यदि सगोतियों के बीच अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है तो पंजाबी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं के साहित्य और शब्द-भंडार का अध्ययन अवश्य करना होगा। हिन्दी राष्ट्र-भाषा के मंडप में आई है। राष्ट्रीय-भाषा पद के लिये उसका स्वयंवर है। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के शब्दों में घोषणा करेगा—

अहमस्मि समानानाम् उद्यतामिव सूर्यः।

'मैं बराबर वालों में ऐसे हूं, जैसे उगते हुओं में सूर्य।'

आपका स्नेहपात्र—
वासुदेवशरण

(१७)

लखनऊ
२२—११—४२

प्रिय जगदीशप्रसाद,[1]

आपका १२–११ का पत्र जो १६–११ को यहां पहुंचा, मुझे कल लौटने पर मिला। 'मधुकर' के 'जनपद-अंक' निकालने के विचार का हार्दिक अभिनंदन! यह एकदम मौलिक और सामयिक सुझाव है। जनपद-कल्याण की भावना को साहित्य के क्षेत्र में आन्दोलन अर्थात् जन प्रवृत्तियों के रूप में प्रचारित करने का श्रेय एकमात्र 'मधुकर' पत्र व उसके प्राण श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को है। मेरा इस प्रकार का चिंतन अधिकांश में उन्हींके श्रद्धामय-दोहन का परिणाम है। अनेक पहाड़ी रौ, झरनों, कूलों, गाड़ और गवेरों के प्रफुल्लित वरदान से महानदी प्रवृत्त होती है। यह दृश्य-सत्य मैं अभी हिमालय की यात्रा में देख आया हूं। इसी प्रकार छोटे-बड़े अगणित विद्वानों के विचार-जल से पूरित, लेखों और भाषणों के तटों से मर्यादित, तपस्वी साधकों की

[1]श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, मधुकर कार्यालय (टीकमगढ़) के नाम पत्र।

क्रियाशील साधना के तीर्थों से प्लावित, लोकमंगल की भावना से तरंगित, जनपद-कल्याण की महाधारा हमारे साहित्य के महाप्रदेशों में उमँड़ कर बहेगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। सर्वलोकनमस्कृता भगवती गंगा के प्रवाह को भगीरथ जिस प्रकार भूतल पर ले आए थे, उसी प्रकार इस जनपद-कल्याणी गंगा को सर्व-सुलभ करने के लिये मनोयोगपूर्वक किए गए अनेक अनुष्ठानों की आवश्यकता होगी। 'जनपद' अंक उसीका सूत्रपात है। ईश्वर करे इसके द्वारा निर्मित भवन चिरायु हो।

'जनपद-अंक' के लिये विषय-सामग्री का जो ठाठ आपने लिखा है, वह बहुत ही उपयुक्त है। खूब शांत चित्त से, अविचल, धीर निष्ठा से किसी भी साहित्यिक मित्र के प्रति अमर्ष के भाव से अखिन्न होकर लिखिए, अवश्य यह साधना सफल होगी।

जनपदीय आन्दोलन की रूपरेखा, उसका उद्देश्य बार-बार लिखने और समझने से खूब प्रचारित होना चाहिए। जो जहां है वह किसी-न-किसी जनपद में ही बैठा होगा। अपने चारों ओर की भूमि की पहचान वह वहीं से प्रारंभ कर सकता है। पृथिवी-पुत्र बनने के लिये हृदय के तार को भूमि से मिलाने की आवश्यकता है। दूध पीने लगना ही बच्चे का माता से पहला परिचय है। जब हम दूध पीकर पुष्ट होंगे, तब माता के नाम धाम की पहचान करने के योग्य होंगे। पहले दिन ही माता के व्यक्तित्व की टटोल का आग्रह बच्चे के लिये क्या हितकारी हो सकता है! जनपदकल्याणीय शिशु को अभी मातृभूमि का स्तन्यपान चाहिए। सब कार्यकर्ता मिल कर उसे प्रस्तुत करें। जनपदों के नामों की छोटी बड़ी अनेक सूचियां प्राचीन ग्रन्थों में हैं। उनकी संख्या से जनता में व्यामोह उत्पन्न हो सकता है। फिर यह संख्या भी कभी टिकाऊ नहीं रही, ऐतिहासिक कारणों से जनपद घटे और बढ़े हैं। कभी वे फैले, कभी सिकुड़ गए, पर जानपद-जन एक ही रहा, सर्वदा अखंड। जनपदों के पीछे छिपा हुआ जो जनपदीय भाव है, उसको क्या कोई

टुकड़ों में बाँट सकता है ? वायु के और जल के चाहे तलवार से टुकड़े हो सकें, पर अखंड जनपदीय भावना का बटवारा नहीं हो सकता। आकाश को चाहे चमड़े के थान की तरह लपेटा जा सके, पर जानपद जन के मानस पट को पृथक् थानों में लपेट कर नहीं रखा जा सकता।

आपका हितैषी—
वासुदेवशरण

टिप्पणियां

पृष्ठ

२. औषधियों के नामकरण का मनोरम अध्याय—चरक ने सूत्र-स्थान के आरम्भ में दस-दस नामों के वर्ग बनाकर पाँच सौ औषधियों के नाम गिनाए हैं। आयुर्वेदीय निघंटु ग्रंथों के अन्तर्गत औषधि-नामों और लोक-प्रचलित नामों की छानबीन की ओर संकेत है।

असील मुर्गों की बढ़िया नस्ल—तारकशी की तरह खिंची हुई नसों वाले लखनऊ के हवाबाज़ असील मुर्गों की नस्ल से तात्पर्य है। असील (अरबी) = कुलीन माँ-बाप से उत्पन्न। देखिए पृ० ५२

३. पालकाप्य मुनि का हस्त्यायुर्वेद—आनन्दाश्रम ग्रंथमाला (पूना) से प्रकाशित; हाथियों के सम्बन्ध में भारतीय जानकारी का सुन्दर संग्रह है।

शालिहोत्र का अश्वशास्त्र—इस नाम के कई ग्रंथ छपे हैं। अश्वविद्या के विशेषज्ञ के लिये हिन्दी सलोतरी शब्द शालिहोत्र से बना है। शालि और होत्र दोनों शब्दों का अर्थ घोड़ा है। ये दो भाषाओं के शब्द हैं। होत्र से घोत्र एवं घोड़े की व्युत्पत्ति होती है।

हय लीलावती—देखिए, माघ की मल्लिनाथ टीका में उद्धृत श्लोक ५।१०।

अल् अमर्ना की पुस्तक—तल्-अल्-अमर्ना गाँव से प्राप्त पकाई मिट्टी के कीलाक्षरी पत्रकों में भारतीय अश्वविद्या का एक ग्रंथ है (इंसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका, १४ संस्करण जिल्द ११: पृ० ६०४)। और भी देखिए, पृ० १५।

हिन्दी-शब्द-निरुक्ति के लिये जनपदीय बोलियों का सहारा—हिन्दी का विकास अपभ्रंश और प्राकृत के द्वारा हुआ है। अधिकांश हिन्दी शब्दों के अपभ्रंश या प्राकृत रूप जनपदीय बोलियों में सुरक्षित हैं। उनका संग्रह हिन्दी निरुक्त-शास्त्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। सब बोलियां से लगभग ५०,००० शब्द हिन्दी को प्राप्त होने की आशा है। हिन्दी की किसी भी बोली का व्युत्पत्तिसूचक कोष हिन्दी भाषा-शास्त्र की प्रथम आवश्यकता है।

४. हिन्दी-भाषा की तीन हज़ार धातुएँ—हिन्दी-शब्द-सागर के आधार पर।

५. न केवल हिन्दी बल्कि प्रत्येक प्रान्तीय भाषा के साहित्यकार के लिये पृथ्वीपुत्र-धर्म आवश्यक है।

कामदुघा—यह वैदिक शब्द है, कामधेनु जो सब कामनाओं की पूर्ति करे।

पन्हाती है—पूर्वी हिन्दी की धातु। अर्थ, दुहने के समय गाय का अपने थनों में दूध उतारना।

६. विश्वधायस्—वैदिक शब्द, विश्व को अन्न से धपाने या तृप्त करने वाली।

मातृभूमि का हृदय परमव्योम—वैदिक वाक्य है। परमव्योम से तात्पर्य परम ब्रह्म या ज्ञान के विश्वव्यापी लोक से है।

सुनहली प्ररोचना—स्वर्ण की तरह चमकीला रूप।

७. ऋत—विश्वव्यापी अखण्ड नियम या ज्ञान।

ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ, ऊर्ध्व के साथ पृथ्वी का सम्बन्ध—वैदिक परिभाषा में ऊर्ध्व = अमृत, परब्रह्म ; अधः = मृत्यु, स्थूल जगत्।

८. 'चतुरन्त शोभी'—चारों दिशाओं में शोभायमान।
दिशाओं के कल्याण—पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण में स्थित देशों की समृद्धि।

तीर्थ—वस्तुतः, नदी पार करने का स्थान; नदी-तट पर वह बिन्दु जहाँ पगडण्डी या मार्ग आर-पार जाने के लिये नदी का स्पर्श करता है।

जनायन पंथ—पृथिवी सूक्त का शब्द, जनमात्र के आने-जाने के लिये विस्तृत बिछा हुआ मार्ग।
चारिकं चरित्वा—पाली जातकों से लिया हुआ वाक्यांश। विद्याध्ययन के अनन्तर ज्ञानप्राप्ति के लिये स्नातकों की पैदल देशयात्रा।

आरम्भिक भू-प्रतिष्ठा—जनता का पृथिवी के साथ आद्य सम्बन्ध; भू सन्निवेश की यह घटना ऐतिहासिक नहीं भाव-जगत् की है।

झूलती हुई नदी की तलहटियां (Hanging valleys)—कभी-कभी नदी अपने चट्टानी धरातल से नीचे उतरती हुई नीचे की मिट्टी को तेज़ी से काट डालती है, तब उसकी तलहटी झूलती हुई जान पड़ती है। कभी-कभी यह दरी बहुत गहरी बन जाती है, जैसे अरुण नदी की तलहटी २०,००० फुट गहरी है। और भी देखिए, पृ० १४०।
जोत—पहाड़ के ऊपर-ऊपर होकर उस पार जाने का रास्ता। संस्कृत में सीमाप्रान्त में 'उत्तरज्योतिक' और आसाम में 'प्राग्ज्योतिक' दो प्राचीन भौगोलिक परिभाषाएँ थीं। प्राग्ज्योतिक पीछे प्राग्ज्योतिष हो गया।
घाटा—दो पहाड़ों के बीच में होकर उस पार जाने का रास्ता।

९. देवयुग—मानुषी इतिहास से पहले की काल-गणना के युग। अंग्रेज़ी में 'ज्यॉलॉजिकल एजेज़'

पाथोधि हिमालय—अंग्रेज़ी Tethys के लिये विरचित परिभाषा। और भी देखिए, पृ० १५३।

ठाठ—भारत का वर्तमान ठाठ या कूर्मसंस्थान। Land Configuration से तात्पर्य्य।

गंगलोढ़े—नदियों के वहाव में पड़कर लुढ़कने वाले गोल-मटोल पत्थर; छोटी-बड़ी बटियाएँ।

नदियों का वार्षिक ताना-बाना—नदी-प्रवाह में बहती हुई मिट्टी की ऊपर-नीचे जमी हुई पर्तें जो बरसात में मोटी और थिरने पर कुछ पतली जमती हैं।

चित्र विचित्र शालाओं, शुद्ध पाठ 'शिलाओं'।

१०. मातरिश्वा—भरातीय मानसून या मौसमी हवा के लिये प्राचीन शब्द।

११. धनुष्कोटि—दक्षिण समुद्र-तट के पास एक तीर्थ का नाम है जहां महोदधि (बंगाल की खाड़ी) और रत्नाकर (अरब सागर) दोनों मिलते हैं। स्थानीय अनपढ़ लोगों में ये दोनों नाम आज तक वहां चालू हैं।

१२. पृश्नि—चित्र-विचित्र, पृथिवी या गऊ की वैदिक संज्ञा।

वातातपिक—धूप और वायु सम्बन्धी। पर्याय सौर्यमारुतिक। दोनों शब्द चरकसंहिता के हैं।

१३. केदार—देवदारुओं के लिये संस्कृत भाषा में एक पर्याय। और भी देखिए, पृ० १८९।

मालभञ्जन लता—ऋषीकेश से बद्रीनाथ के मार्ग में पहाड़ी वृक्षों पर फैलने वाली ऊँचे उठान की छतनार वेल।

१४. शालभंजिका—कुसुमित शालवृक्ष के बगीचों में प्राचीन

भारतीय स्त्रियों की एक उद्यान क्रीड़ा। पेड़ की डाल झुका-कर विशेष ढङ्ग से खड़ी हुई स्त्री के लिये पीछे यह शब्द पारिभाषिक बन गया।

मानसरोवर की यात्रा करने वाले हंस—बत्तख जाति के पक्षी गर्मियों में हिमालय की ओर उड़ जाते हैं और जाड़े के आरम्भ में मैदानों में उतरते हैं।

भारतीय पक्षी—भारत में लगभग ढाई सहस्र जाति के पक्षी हैं। और देशों की अपेक्षा यहां की पक्षि-संख्या भी बढ़ी-चढ़ी है।

सिन्धु—आजकल का सिन्धुसागर दोआब प्राचीन सिन्धु था जहां के सैन्धव घोड़े मशहूर थे।

कम्बोज—पामीर-प्रदेश का प्राचीन नाम।

सुराष्ट्र—काठियावाड़ी घोड़ों के लिये प्रसिद्ध है।

१५. लैम्पसकस से प्राप्त भारत लक्ष्मी की तश्तरी—विशेष वर्णन के लिये देखिए, नागरी प्रचारिणी पत्रिका विक्रमांक, प्रथम भाग सं० २,०००, 'लम्पकस से प्राप्त भारत लक्ष्मी की मूर्ति, पृ० ३६—४२ केकय के कुत्तों की यह नस्ल आज भी जीवित है—वर्तमान नाम बुलिक'।

लख-चौरासी—बरसात में जन्म लेने वाली कीट-सृष्टि। देहात में चालू शब्द जो इस अर्थ में अहिच्छत्रा गांव में सुनने को मिला।

१७. संवत्सर का इतिहास नित्य है—संवत्सर में होने वाली वृक्ष-वनस्पति जगत् की सृष्टि और ऋतु-परिवर्तन की घटनाएँ प्रतिवर्ष दोहराती हैं। यही उनका नित्यत्व है।

फगुनहटा—फागुन की तेज बर्फीली हवा।

१८. नभ्य—वैदिक शब्द, नाभि केन्द्र से सम्बन्धित।

१६. हउहरा—गरमी में चलने वाली अपनी लपटों से झुलसा डालने वाली एक प्रकार की लू। यह फागुन के बर्फीले फगुनहटे की उल्टी है।

बतास—तेज हवा।

२२. वह पुष्कर जिसे देवों ने सूर्या के विवाह में सूंघा था—जिस समय पूर्व युग में सोम और सूर्या के विवाह के अवसर पर सब देवता एकत्र हुए होंगे उस समय जिस कमल की गंध से उनका सत्कार किया गया वही पृथिवी की गंध आज तक कमलों में सुरक्षित है; एक काव्यमयी कल्पना।

२४. अशोक द्वारा वाणी के संयम का उपदेश—शिलालेख, संख्या १२।

२६. नगर देवता—गंधार देश की पश्चिमी राजधानी पुष्कलावती के सिक्के नगर-देवता के नाम से ही अंकित किए गए हैं। वाल्मीकि रामायण में लंकापुरी की अधिष्ठात्री देवी का बड़ा ही मार्मिक उल्लेख है कि लंकानगरी साक्षात् रूप में प्रकट होकर पुरी की रक्षा के लिये हनुमान के सामने प्रकट हुई।

संग्राम—वैदिक शब्द, जिसका मूल अर्थ था दो ग्रामों का समागम। युद्ध के अवसर पर इस प्रकार का समागम होने के कारण संग्राम का अर्थ युद्ध हो गया।

सभा और समिति—इन्हें प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। (अथर्ववेद ७।१२।१)

२६. आसन्दी - वैदिक शब्द, बैठने की चौकी; स्थिति-केन्द्र।

३१. उरुलोक—विशाल या विस्तृत लोक।

३३. भुजिष्यपात्र—भोगों का पात्र। वह पात्र जिसमें सब प्रकार के भोग और भोजन हैं।

३७. यामुन पर्वत—आधुनिक बन्दरपूँछ पर्वत जहाँ से यमुना निकली है।

३६. गोष्पद और अगोष्पद—पाणिनीय व्याकरण (६।१।१४५) के अनुसार पारिभाषिक शब्द। गोष्पद, वे जंगल जहाँ गाएँ चरने के लिये जाती हैं। अगोष्पद—वह घना जंगल जहाँ गाएँ भी नहीं जा पातीं।

४३. 'हरावल दस्ता - सेना का आगे चलने वाला भाग।

४४—खोद्द—एक महीने तक गेहूँ के छोटे पौधे को नाली या नरियां पड़ने से पहले पछाहीं हिन्दी नें खूद और पूर्वी हिंदी में खोद्द कहते हैं जो संस्कृत क्षुद्र, पाली 'खुद्द' से बना है। गमोदा—गेहूँ का पौधा।

४५ तुतिया-हँसली—धान के पौधों में छोटे-छोटे रोयों की पट्टी।

४६ 'लग हैण्डिल' के लिये शुद्ध शब्द चुंटी है।
सतर करना—सीधा खड़ा करना।

४८ दालो-गालो—इसका शुद्ध पहाड़ी उच्चारण दाल़ो-गाल़ो है।
बिज्जोना—बिजली चमकना (सं० विद्योतते)
घोरना—बादल का धीर-गम्भीर गर्जन। 'बिज्जोना और घोरना' दोनों धातुएँ मेरठी बोली में जीवित हैं।
झोर डालना—पत्रों को गिराकर पेड़ को नंगा करना।

४९. लसिया जाना—आम लसिया जाता है अर्थात्, बौर के भीतर का रस बाहर आ जाता है और पत्तों पर फैल जाता है। लसियाए हुए आम के पत्ते धूप में ऐसे चमकते हैं जैसे रोगन से पुते हों। लसियाए हुए आम में दाने नहीं लगते। पुष्पों में गर्भाधान के लिये संचित रस पुरवाई के कारण स्खलित हो जाता है।

सूखी हवा—उत्तर की ओर से चलने वाली एक हवा।

इसे राजस्थानी लोकगीतों में सूरया और बुन्देलखण्ड में 'सुअरिया' कहते हैं।

५१. ममोला—खञ्जन की जाति का पक्षी। यह शब्द पश्तो मामूलकः से निकला है। (रेवर्टी, पश्तो कोष पृ० ८८७) पछाहीं हिन्दी में यह नाम खूब चालू है।

डगलस डेवर—यू० पी०, आई० सी० एस०, के भूतपूर्व सदस्य. तथा भारतीय पक्षियों के बहुत बड़े विशेषज्ञ। उन्होंने लगभग एक दर्जन पुस्तकें लिखीं जिनके अन्त में पक्षियों के अंग्रेजी नामों के साथ देशी नामों की तालिका भी दी गई है।

५३. गुह्यं ब्रह्म आदि—व्यास का वाक्य (शांतिपर्व, १८०।१२) गांधीजी के शब्दों में—"Man is the supreme consideration." इसीसे मिलता-जुलता चण्डीदास का कथन है—"सवार ऊपर मानुस सत्य। तार पर किछु नाहीं।" देखिए पृ० १८०।

निषाद जाति भारत की आदिम निवासी जातियों (Austric Races) के लिये यह शब्द है। मुण्डा, शबर आदि भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। अवध के पूर्वी जिलों में बहुत-से लोग आज तक अपने आपको गुह निषाद का वंशज मानते हैं।

५६. देशीनाममाला—हेमचन्द विरचित देशी शब्दों का वृहत् संग्रह। भण्डारकर, इन्स्टीट्यूट, पूना से सुन्दर सस्ता संस्करण प्रकाशित हुआ है।

धात्वादेश—एक अर्थ वाली प्राकृत की कई धातुएँ उसी अर्थ की एक संस्कृत धातु के सम्बन्ध से धात्वादेश कही गई हैं। जैसे प्राकृत की 'छड्ड' संस्कृत की 'मुञ्च' का

धात्वादेश है। धात्वादेश की युक्ति के द्वारा प्राकृत की धातुओं को जो लोक-प्रयोग में आ चुकी थीं, मान्यता दी गई। ग्रियर्सन ने प्राकृत व्याकरणों की सहायता से प्राकृत धात्वादेशों का एक बहुत अच्छा संग्रह एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से सन् १९२४ में प्रकाशित किया था।

जोगाजोग—ठीकमठाक (मेरठी बोली)।

५७. बैसवाड़ा– कानपुर, उन्नाव और रायबरेली का प्रदेश। संस्कृत 'बैसपाटक' अर्थात्, बैस नामक क्षत्रिय जाति का इलाका।

५८. कपटा—काटने-कपटने के अर्थ में पहाड़ी और पूर्वी हिन्दी में प्रचलित है। संस्कृत 'क्लृप्' धातु से यह शब्द बना है। पवेड़ना—श्री डा० सुकथनकर ने मुझे सूचित किया था कि महाभारत में छै बार प्रवेरित या प्रवेरिता शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु संस्कृत कोषों में कहीं यह धातु नहीं मिलती, यद्यपि लोक में पवेड़ना धातु बच गई है।

६४. बबनो और मँड़नी के दो चित्र इस पुस्तक के मुखपृष्ठ के अलंकरण में दिए गए हैं। मौर्यकालीन कोठार का तीसरा चित्र नागरी प्रचारिणी पत्रिका विक्रमांक (उत्तरार्द्ध) पृ० २५७ में छपा है।

६५. 'सवंगीयों' अशुद्ध है; शुद्ध रूप सवंगीय है। अर्थ, वंग-देश के निवासी।

गण्डकमुद्रा—कौड़ियों के रूप में प्रचलित सिक्के। कौड़ी बंगाल का अत्यन्त प्राचीन सिक्का था जो मौर्यकाल से १९वीं शताब्दी तक चालू रहा। सन् १८०१ तक सिलहट जिले की ढाई लाख की मालगुजारी कौड़ियों में ही सरकारी खजाने में जमा की जाती थी। सन् १८१३ से यह प्रथा

बन्द हुई। चार कौड़ियों का एक गण्डा होता था। भारतवर्ष में कौड़ियां मालद्वीप (मलाबार के पास एक द्वीप जिसका पुराना नाम कपर्दक द्वीप था) से आती थीं।

६६. कुटी-प्रावेशिक—चरक का पारिभाषिक शब्द, चिकित्सा-स्थान, अध्याय १, पाद १, श्लोक १६। घर के भीतर घुस कर किए जाने वाले कार्य के लिये कुटी-प्रावेशिक और धूप हवा में किये जाने वाले प्रयोग के लिये वातातपिक या सौर्यमारुतिक (चिकित्सा-स्थान, अ० १, पाद ४, श्लोक २८)।

६७. माहेयी त्रिहायनी—तीन वर्ष की गऊ। इस शब्द की व्यञ्जना है जवान-पट्ठी गर्भ-धारण के लिये तैयार ओसर।

अराजक जनपद का गीत—वाल्मीकि रामायण (अयो० कां० अ० ६७)वाल्मीकि के अराजक जनपद-गीत से मिलता हुआ महाभारत में भी अराजक जनपद का गीत है जिसकी टेक है 'यदि राजा न पालयेत्' (शांतिपर्व, अ० ६८, श्लोक १—३०)

हैयंगवीन—रघुवंश (१।४५) कल के दूध से सवेरे निकाला हुआ मक्खन।

६८ श्री आरल स्टाइन की पुस्तक 'The stories of Hatimtai' में काश्मीरी बोली का अध्ययन है (देखिए, पृष्ठ ८०-८१) ।

हरमुकुट पर्वत पर बैठकर......=श्री आरल स्टाइन से तात्पर्य है जो गरमी में हरमुक पर्वत पर डेरा लगाकर रहते थे।

दरद् देश—उत्तर-पश्चिमी काश्मीर के गलगित प्रदेश का प्राचीन नाम दरद् देश था। काश्मीर की बोली को पैशाची प्राकृत से विकसित माना गया है।

७१ पश्तो भाषा—इसका स्थानीय उच्चारण पख्तो है। सिन्ध नदी के उस पार के कबाइली इलाके और अफगानिस्तान पूर्वी प्रदेश पख्तून कहलाते हैं। यह शब्द वैदिक पक्थन से निकला है। पख्तो भाषा का व्याकरण और अरबी शब्दों को छोड़ कर शब्द-भण्डार भी संस्कृत से सम्बंधित है। पख्तो के काफी शब्द अफगानों के राज्य-काल में हिन्दी में चालू हो गए। जैसे, टकटकी, चकचुन्धी, परकटी, टप्पर, डील, दांदा (छोटा कुआं)।

७२. पर्वत की द्रोणी—दो पहाड़ी के बीच की भूमि जिसे हिन्दी में 'दून' कहते हैं, जैसे देहरादून।

७४. ग्रियर्सन का काश्मीरी कोष—एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से प्रकाशित।

७६. मधुकर—पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में टीकमगढ़ से प्रकाशित एक पत्र जिसमें जनपदीय दृष्टिकोण की व्याख्या करने वाले लेख प्रकाशित हुए। इस समय पत्र बन्द है।

व्रजभारती—व्रज साहित्य मण्डल की मुख पत्रिका।
बान्धव—रीवां से प्रकाशित होने वाला मासिक पत्र, जो इस समय बन्द है।

८५. लोकवार्ता शास्त्र—श्री कृष्णानन्दजी को Anthropology के लिये 'लोकवार्ता शास्त्र' पद सुझाव मैंने भेजा था जिसे उन्होंने स्वीकार करके अपनी त्रैमासिक पत्रिका का नाम 'लोकवार्ता' रक्खा। मैंने यह शब्द वल्लभकुलीय सम्प्रदाय में प्रचलित गोसांइयों की निजवार्ता-घरुवार्ता—इन दो शब्दों की शैली पर चुना था।

८६. मातृत्व शक्ति की पूजा—मातृ देवी (ग्रेट मदर गॉडस) जिसके प्रमाण हड़प्पा की खुदाई में मिले हैं।

८७. कल्पवृक्ष—कल्प, कल्पना या विचारों का वृक्ष, अर्थात् मन।

८६. वसंत—जिस ऋतु में रस वनस्पतियों में बसने लगता है, उसे वसन्त कहते हैं। प्रत्येक वृक्ष में वर्षभर का रस (sap) मण्डलाकार रूप में जमता है जिसे 'ring' कहते हैं। वसन्त ऋतु से नए रस की 'रिंग' पड़नी आरम्भ होती है और वृक्ष में नई पत्तियां लहलहाने लगती हैं।

६२. खड़ पत्थर—अनगढ़ पत्थर, जिसे काटकर वेगड़ी लोग गुरिया और नग बनाते हैं।

चील-चट्टे—यह बुन्देलखण्डी शब्द विन्ध्य की नदियों में होने वाले बहुत कड़े नग-पत्थरों के लिये प्रयुक्त होता है जो चिरगाँव-यात्रा में मुझे गुप्तजी से प्राप्त हुआ था।

६८. हिन्दी-साहित्य का समग्र रूप—जनपदीय बोलियों से हिन्दी का अहित होगा, इस आशंका के निराकरण के लिये इस शीर्षक की प्रेरणा हुई थी और इसमें केवल खड़ी बोली में होने वाले कार्य का संकेत किया गया है।

६६. अरबी यात्रियों के भारत-वर्णन के लिये देखिए, श्री मोहम्मद हुसेन नयनार कृत 'Arab Geographers of South India' (मद्रास विश्वविद्यालय)

१००. तरैयाँ—छोटे-छोटे तारों का समूह (सं० तारागण)।

१०४. आस्थान-मण्डप—बैठक या दीवानखाने के लिये प्राचीन संस्कृत शब्द। बाणभट्ट ने कादम्बरी में राजा शूद्रक के दो आस्थान-मण्डपों (दीवानेआम और दीवानेखास) का वर्णन किया है।

१०६. कुकारू—खाज (बुन्देलखण्डी)।
'उंचकेर' का शुद्ध रूप 'उंचकर' अर्थात्, कपड़े को ऊंचा करने के लिये खोंस कर। मेरठी 'उंसना' धातु का बुन्देलखण्डी रूप 'उचकेरना' है।
कँधेला—कंधे पर पड़ा हुआ पल्ला या आँचल (सं० स्कधपल्लव)।

१०७. टपरियाँ—अर्थ है, झोपड़ी। मध्यभारत, विशेषकर मालवा में, इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।
रूँद—रक्षित जंगलों के लिये बुन्देलखण्ड और ब्रजभाषा में चालू शब्द।

१०८. गुरसैटा—गोबर का कंडा (सं० गोधनवट्टक)।
तकरी—तराजू।

११४. लौकिक न्यायाञ्जलि (तीन भाग, जेकबकृत ; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) संस्कृत न्याय या कहावतों का पचास वर्ष में किया हुआ संग्रह।

११६. उजरक या ईतरी गाय—उजरक, उजाड़ करने वाली; ईतरी (सं० इत्वरी), चञ्चल, उछल-कूद करने वाली। ऊधमी बच्चों के लिये 'ईतरे' विशेषण प्रयुक्त होता है।

११७. पिन्नी—माँगने वाली। सं० प्रणय=याञ्चा; प्रणयिनी=याञ्चा करने वाली, मँगती।

११८. जांञी –(पंजाबी) बराती; जंञ=बरात (यज्ञ, प्रा. जन्न)।
मेवाड़ी—उदयपुर की बोली। मारवाड़ी जोधपुर की बोली, हाड़ौती कोटा-बूँदी की बोली और ढूंढारी जयपुर की बोली।

१२१. नानकी—श्री नरोत्तमदास स्वामी ने २२-४-४६ के पत्र में सूचित किया है (जो मुझे मान्य है) कि ऋग्वेद की

नना से नानकी का कोई सम्बन्ध नहीं है। नानकी शब्द नान्हार (=छोटा) से बना है। सूर ने नन्हरिया का प्रयोग किया है। नानकी में 'की' ऊनवाचक प्रत्यय है। नानकी का अर्थ है—छोटी लड़की। कहावत का नंग पाठ अशुद्ध है। मूल पुस्तक में ही अशुद्ध छपा था। शुद्ध पाठ—'नग जण्या ए नानकी, तरे तरे की बानगी'; अर्थात्, अरी लड़की, तूने नग या रत्न पैदा किए हैं जो तरह-तरह के नमूने हैं। एक माँ की कई तरह की सन्तान होने पर यह उक्ति काम में आती है।

१२२. लाँटी—ठीक अर्थ ज्ञात नहीं, पर सम्भवतः प्रथम बार ब्याई भैंस (श्री नरोत्तमदास स्वामी)।

पगरखो—जूती।

कसरा काम—सम्भवतः किस काम का।

टेंट—बकरी।

माटी—विधवा का पति; माटी शब्द आदरवाचक नहीं समझा जाता (श्री नरोत्तमदास स्वामी का पत्र)।

डाबा वेटा—चतुर पुत्र।

१२४. सोढ़ीजो बाला सणगार करे—सोढ़ी (क्षत्रिय) जाति की स्त्रियाँ बड़ी सुन्दर और शृंगारप्रिय होती हैं। उन्हें शृंगार करते में बहुत देर लगती है। किसी काम में विलम्ब करने वाले के प्रति इस व्यंगोक्ति का प्रयोग किया जाता है।

लखारा की लोड़ी अर डूँगर जाय पोढ़ी—लखेरे (लाख की चूड़ी बनाने वाले की बहू डूँगर या ऊँचा जगह जाकर सोई। यह अनमेल बात है। अपनी हैसियत से मिलते हुए स्थान पर ही बैठना-उठना चाहिए।

बीच के झमके (झबके अशुद्ध पाठ है) मोती पोय ले तो

पोय ले—जबतक बिजली चमकती है तबतक मोती पिरो लो तो पिरो लो (नहीं तो हार टूटा हुआ ही रहेगा।)
बामण का धन मचोड़ा में, धाकड़ का धन लरोड़ा में (१७७।५१)—ब्राह्मण का धन खाने में और धाकर (एक लड़ाकू जाति) का धन लड़ाई में व्यय होता है।

१२९. वष्म—डीलडौल वाला।

१३४. ज्ञान को ताकर—ताना = तपाना गरम करना या फैलाना।
भौमब्रह्म—आदिराज पृथु के चरित्र-वर्णन में राष्ट्र को भौमब्रह्म कहा गया है। अर्थात्, ब्रह्म का भूमिगत रूप।

१४२. बालपन के तरंगित स्वरों से उनका स्वागत—कुंजों को देखकर बच्चे कहते हैं—'कुंज-कुंज कहाँ चले? गंगा नहाने चले।' अर्थात् अरे भाई कुंज, बहुत दिनों में लौटे, अब इतनी जल्दी कहाँ जा रहे हो? कुंज उत्तर देते हैं कि बहुत दिनों से गंगा नहीं मिली, इसलिये गंगा नहाने जा रहे हैं।

१४३. शुक-मार्ग और पिपीलिका-मार्ग—ये शब्द उपनिषद् की भाषा के हैं।

१४८. भावी स्थान-नाम परिषद् (Place-name Society) अन्य देशों में इस प्रकार की परिषदों ने स्थानीय नामों को इतिहास, लोकवार्ता, किंवदन्ती, और भाषाशास्त्र की चलनियों से छानकर बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की है। उदाहरण के लिये, वेल्स के स्थान-नामों में प्राचीन केल्टिक भाषा, धर्म और गाथा-शास्त्र की बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित पाई गई है। भारतवर्ष में भी स्थान-नाम परिषद् के द्वारा सिन्धु से कावेरी और नर्मदा से सूरमा नदी तक के विस्तृत भू-भाग में छाए हुए अनेक भाषाओं के स्थान-नामों

से कल्पनातीत सामग्री उपलब्ध होने की आशा है। शबर, मुण्डारी, संथाली, कनौरी, पैशाची, पश्तो, गोंडी, द्राविड़ी और संस्कृत-प्रधान आर्य-भाषाओं की भरपूर सामग्री स्थानीय नामों में पिरोई हुई है। भारतवर्ष के लिये इस प्रकार की देशव्यापी संस्था की तुरन्त आवश्यकता है।

१५४. हिमालय की ऊँची-नीची शृंखलाएँ—पाली-साहित्य में भी हिमालय के भेद का चुल्लहिमवन्त और महाहिमवन्त के नाम से स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

१७२. दूहों, शुद्ध पाठ दूहों।

१८२. खोखा—हुण्डी की नकल, प्रतिलिपि ; हुण्डी-बाजार का पारिभाषिक शब्द जो हुण्डी की नकल के लिये प्रयुक्त होता है।

१८३. झनझन गुड़िया की कहानी—मधुकर, वर्ष २, अंक २१ (१ अगस्त, १९४२, पृ० २४–२६; 'करमरेख' शीर्षक कहानी जिसमें झनझन गुड़िया का उल्लेख है।)

१८६. मूठल—मूर्ख।

१९३. रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय—मेघदूत १।२०
अहुठ हाथ तन सरवर—जायसी, पद्मावत ११।३

१९४. महिट्ठ का शुद्ध पाठ मंहिट्ठ = सबसे महान्।
सं श्रुतेन गमेमहि – अथर्व १।१।४, ज्ञान के साथ हमारे जीवन का मेल हो, ज्ञान के साथ हम विरोध न करें।

१९८. काविस—शुद्ध कविस, लाल रंग की मिट्टी जिसे कुम्हार खोद लाते हैं। पानी में घोल कर उससे बर्तन रंग देते हैं और तब अवा में लगाते हैं।
बालों की पूँछरी—गधे के बालों को पतली डंडी में बांध कर पूँछरी या ब्रुश बनाते हैं।

२००. नाव का गून—वह पतली पर मजबूत बटी हुई रस्सी जिसका एक सिरा गुनरखे या मस्तूल में और दूसरा सिरा अपनी कमर में बाँध कर मल्लाह नाव को धार से उल्टी ओर खींचता है।

२०१. लमेर—वह दाना जो खेत में झड़ कर अपने आप बीज बन कर उगता है। ऐसे कितने ही खुदरा अन्न जो बोए नहीं जाते लमेर या पूरब में लमेरा कहलाते हैं।

झरंगा—पौधों को काटने से पहले झड़ कर गिरे हुए दाने।

२०८. गधेरा—बरसाती नाले के लिये गढ़वाली शब्द। कूल (सं० कुल्या) पहाड़ के ऊपर पानी की धारा जिसे किनारे बांधकर खेतों की सिंचाई के लिये इच्छानुसार उतारते हैं। कूल का और छोटा रूप गूल कहलाता है।

धरती

देश की आशा उसकी धरती है। भारत खेतिहरों का देश है। किसान धरती के बेटे हैं। यहां किसान जिएगा तो सब कुछ है। किसान बिलट गया तो सब कुछ बंटाढार समझिए। एक पुराने संस्कृत श्लोक में पते की बात कही है—

राज्ञः सत्त्वे असत्त्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते।
कृषीवल विनाशे तु जायते जगतो विपत्॥

राजा एक रहे या दूसरा आ जावे, कुछ विशेष भेद नहीं पड़ता। लेकिन अगर किसान का नाश हुआ तो जग-प्रलय समझनी चाहिए। किसान के जीवन को बनाने में भारत का सर्वोदय है। भारत का किसान देखभाल कर चलने वाला है। वह सदियों से अपना काम चतुराई के साथ करता आ रहा है। उसमें हड्डे पेलने का भी गुण है। खेत में जब उतरता है खून-पसीना एक कर देता है। सर्दी गर्मी से वह जी नहीं चुराता। असौज की धूप में भी सिर पर चादर रखकर वह खेत में डटा रहता है। वह स्वभाव से मितव्ययी है। उसे बुद्धू या पुरानपन्थी कहना अपनी आंखों का अन्धापन है। भारतीय किसान को उसकी भाषा में जब कोई अच्छी बात बताई जाती है वह उसे चाव से सीखता है और अपनाने की कोशिश करता है। लेकिन अगर भारी-भरकम अधकचरा ज्ञान उसके द्वारे उँडेल दिया जाय और वह भी विदेशी भाषा में तो यदि किसान उसे न समझ पावे तो किसान का क्या दोष है? भारतीय किसान के शरीर और मन में धरती माता क्षमा और दृढ़ता बनकर बैठी है। संतोष और परिश्रम में भारतीय किसान संसार में सबसे ऊपर है। उसके सद्गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। किसान को दोषी ठहराना सस्ता विज्ञापन है और वैसा करना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है।

किसान के साथ जो झूठी हमदर्दी या दयामया दिखाते हैं उन मित्रों से भी किसान को भगवान् बचावे। फूँस और छप्पर के कच्चे घरों में रहना कोई त्रुटि नहीं है। किसान ने चतुराई से जानबूझ कर इस तरह के घर चुने। उसके घर की देवी ने पहले से ही तिनकों का वस्त्र पहना, वही उसे भाया! किसान अपने घर को बांस और बल्लियों के ठाठ से, अपने ही जंगल के घास और फूँस से और अपने ताल की मिट्टी से पाथी हुई कच्ची ईंटों से बनाता है। इसमें एक बड़ा लाभ है, वह यह कि किसान शहर का या बाहरी जगत् का मुंह नहीं ताकता, वह अपने ही क्षेत्र में स्वावलम्बी बन जाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान के जीवन की कुंजी है। उसके खेती के औजार हल, हेंगा, पंजाली, बरत, पुराही, कुदाल, हंसिया सब उसके यहां ही तैयार होते हैं। गांव की जानी-पहचानी कारीगरी किसान को आत्मनिर्भर बनाती है। भारतीय खेती की पुरानी पद्धति में सैकड़ों तरह का शिल्प किसान के हाथों में रहता है। पचासों तरह की रस्सी वह अपने हाथ से बनाता है और गठियाता है। अपनी बोझ ढोने की छकड़ा गाड़ी को गांव के लुहार-बढ़ई की मदद से वह स्वयं कसकर तैयार करता है। ऊख बोने से पेरने और गुड़-खांड बनाने की सारी प्रक्रिया किसान की उंगलियों के पोरवों में बसती है। लाखों रुपया लगाकर जो परिणाम शक्कर मिल से होता है वह किसान की खंडसार में गांव-गांव और घर-घर देखने को मिलता था। नदी की खिरवाल घास से वह अपनी राब का शीरा अलग करता और भिंडी की लुबलाई और दूध की धार से वह अपने गुड़ का मैल काटता था। बगले के पंख की तरह वह सफेद खांड बनाता था और जहां यह उद्योग चौपट नहीं हो गया है वहां आज भी बनाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान का बहुत बड़ा गुण है। यदि इसी बात का आंख खोलकर अध्ययन किया जाय तो हजारों बातें ऐसी मिलेंगी जिन्हें गाँव का भारतीय किसान अपने हाथ से कर लेता है और जिनके लिये उसे शहर के बंधों और मिस्त्रियों का मुंह नहीं ताकना पड़ता।

जिस चीज को वह अपने गांव में ही तैयार न कर सके और टूट-फूट होने या बिगड़ने पर स्वयं जिसकी वह मरम्मत न कर सके ऐसे यन्त्र को किसान ने कभी नहीं पसंद किया। ऐसा यंत्र यदि उसके जीवन में हम पहुँचाते हैं तो हम उसके ऊपर एक आर्थिक बोझा लादते हैं, उसे बहुत हद तक दूसरे पर निर्भर बनाकर उसकी स्वतंत्रता का लोप करते हैं। बड़े-बड़े आठ लाव के पक्के गोला कुँवें आज भी भारतीय किसान अपने बलबूते और मस्तिष्क के अनुभव से और गाँव के माल-मसाले से तैयार कर लेते हैं। उनके इस कौशल की जी खोलकर प्रशंसा होनी चाहिए। किसी देहात में चले जाइए ऐसे कुवों से गांव-बस्ती और जंगल भरे हुए मिलेंगे। इन्हें देवता नहीं बना गए। किसानों ने ही धरती के सोत फोड़कर इन बड़े इंदारों या गहरे कुंवों को बनाया था। कुंवें का गोला गालना आज भी गांवों में बड़ी चतुराई का काम समझा जाता है। किसान के पास न सीमेण्ट था, न सरिया या गर्डर थे। इन चीजों ने गाँव में पहुंच कर वहां के माल-मसालों की ओर से किसानों का जी फेर दिया। चाहिए तो यह कि अपनी धरती के जिस मसाले से वह अबतक इतनी मजबूत चीजें बनाता रहा था, उसी-की तारीफ करके उसे आत्मनिर्भर बनाया जाय। आज उलटी गंगा बहने लगी है। तिनकों का वस्त्र पहनने वाली गांव की देवी लाल ईंट के मोह में फंस रही है। लाल ईंट भयावनी वस्तु है। इसमें गांव का हित नहीं अनहित है। किसान को अपने लिपेपुते कच्चे घरों से प्यार था। वे उसे सर्दी में गरम और गर्मी में ठंडे लगते थे। उन्हें वह स्वयं अपने हाथों के बल-बूते पर या पड़ोसियों के साथ मिलकर बना डालता था, उनकी लिपाई-लिहसाई और पुताई में उसकी घरवाली उसका हाथ बँटाती थी। अपने अन्न, घर और वस्त्र को पैदा करने और बनाने में किसान स्वतन्त्र था, एकदम आत्मनिर्भर। वेद के शब्दों में—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज,

अपने खेत या केन्द्र पर वह बिल्कुल निर्भय, आधि-व्याधि से दूर, आत्मनिर्भर होकर विराजता था। आज किसान की वह आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे चली जा रही है। एक-एक करके बाहरी कल-काँटे उसके जीवन पर छापा मार रहे हैं और वह उनके भ्रमजाल में पड़कर अपनी आर्थिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता खो रहा है। किसान न घर का रहेगा, न घाट का। यदि लाख-दो-लाख आदमी इस मोह के शिकार होते तो इस मजाक को सह लिया जाता। लेकिन करोड़ों देहात के मनुष्यों को शहर की खर्चीली चीजों का गुलाम बना डालना ऐसी भूल होगी जिसके बोझ से किसान पिस जायगा।

भारतीय किसान के पास हाथ-पैर का बल है, उसके मन में काम करने का उत्साह है, उसमें अपनी धरती और घर-गृहस्थी से प्रेम है, वह राह-राह चलता है, उसमें बुद्धि का गुण भरपूर मात्रा में है, वस्तुतः समझ-बूझ में भारत का किसान बढ़ा-चढ़ा है। उसे किसी तरह बुद्धू नहीं कहा जा सकता। गाँव से छटक कर जब वह शहर में आ जाता है तो शहरी धन्धों को कितनी फुर्ती से सीख लेता है। अथवा जब वह भर्ती हो कर लाम पर जाता है तब वहाँ की कवायद, हथियार और मशीन के काम को वह कितनी चालाकी से सीख लेता है। भारतीय किसान भाषा और भाव दोनों का धनी है। उसके गीतों में उसके सुख-दुःख की अनुभूति प्रकट होती है। इस अनुभूति के तार भारतीय साहित्य के अभिप्रायों से मिले हैं। उसकी पैनी बुद्धि गाँव की चोखी कहावतों में जगमगाती है। मेल-जोल किसान के जीवन को बाँधने वाली पोढ़ी रस्सी है, उसमें मिलजुल कर जीवन चलाने का अद्भुत गुण है। खेती के गाढ़े समय में जब काम का तोड़ रहता है, विशेषकर जुताई बुआई या मँड़नी-दँवनी के कामों में वे खुले जी से एक दूसरे का हाथ बँटाते हैं। शादी-ब्याह, जन्म ज्योनार के समय जिस तरह सारा गाँव और पड़ोस भी एक सूत में बँध जाता है वह देखने लायक

होता है। टहले के घरेलू कामों को कितने ही परिवार सुविधा के अनुसार बाँटकर भुगता देते हैं। मनों गेहूं पीसना हो, तो कितने ही घरों की स्त्रियां बांट ले जाती हैं और गाते-गाते आटा तैयार हो जाता है। सारे गाँव-बिरादरी की चक्कियां एक परिवार की सेवा में लग पड़ती हैं। दाल पीसना हो, कलावे रंगना हो, तीयल सीना हो, इसी प्रकार की पारिवारिक साझेदारी से चटपटा काम हो जाता है। सहकारिता की भित्ति पर बनी हुई जीवन-पद्धति गाँव में पहले से चली आती है। उसको यदि बाहरी चोला न पहनाया जाय तो उसी जीवन में से पुनः उसके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।

भारतीय किसान कथा-वार्ता का प्रेमी रहा है। उसे अपने पूर्वजनों के चरितों में रुचि है। आँखें उसकी काले अक्षर नहीं देखतीं, पर कानों के द्वारा और कण्ठ के द्वारा वह अपरिचित ज्ञानराशि की रक्षा करता आया है। लाखों ग्रामगीत, हजारों कहानियां, लोकोक्तियां और ऋतु एवं प्रकृति की बातें किसानों के कण्ठ में हैं जहां से भाषा का अमित शब्द भण्डार प्राप्त किया जा सकता है। जाड़ों की चिलकती धूप और गर्मी की प्रशान्त रातों में, बरसात के घोरते-गरजते समय और वसन्त के फगुवा बयार में किसान का रोम-रोम नृत्य और गीत के लिये फड़कने लगता है। उसकी नसों की थिरकन भीतरी उल्लास को नृत्य में उँडेल देती है। जीवन की रक्षा करनी है तो लोकनृत्य को मरने से बचाना होगा, लोकसंगीत की लय को फिर से कण्ठों में भरना होगा, आमों पर कूजती कोयलों का स्वर फिर से सुनना होगा जो जंगल को वसन्त के आगमन पर गीत-मङ्गल से भर देती है। किसान के जीवन को पुनः चिताने के लिये उसके नृत्य-गीत अमृत का काम करेंगे।

किसान को बाहर से आता हुआ सच्चा सहानुभूति का स्वर चाहिए। उसके जीवन के सीधे-सच्चे ढाँचे को समझने, परखने और

सँभालने की आवश्यकता है, अस्तव्यस्त करने की नहीं! नीचे खींच लेना आसान है, ठाठ खड़ा करना मुश्किल है। आज हलधर मनोवृत्ति बनाने की आवश्यकता है। देश में चारों ओर सब तरह की मनोवृत्ति तैयार हो रही है लेकिन हल की मुठिया पकड़ कर हलधर बनने या कहलाने की मनोवृत्ति का टोटा है। कहते हैं किसी गाढ़े समय में जनक ने हल की मुठिया थामी थी, तब धरती ने सोना उगला था। आज सोने के घट की देवी, धरती की पुत्री सीता के जन्म की पुनः आवश्यकता है। और सब जगह तो हम जाते हैं, किसानों के खेतः में हमने जाना नहीं सीखा। क्या हमारे अभिनन्दन और उद्घाटन जनपदों की लक्ष्मी के लिये अर्पित न होंगे? आवश्यकता है कि पर्याप्त प्रचार और उत्साह से सारे जनपद के कल्याण का उद्घाटन हम किसी दिन करें और उसी मुहूर्त से पृथिवी और पृथिवी के पुत्र किसानों के जीवन का कायाकल्प करने के लिये जनपद के सच्चे सेवक व सरकारी अमला कमर कस लें। एक-एक जनपद को हम पांच वर्षों में अन्न और वस्त्र से पाट देंगे, वहां की भूमि के सेहा हल कराल होकर गहरी फाड़ करने लगेंगे, वहां के तिनकों में जान पड़ जायगी, गाय-भैंसों के सूखते पंजरों पर फिर से मांस के लेवड़े चढ़ने लगेंगे और लुढ़कती हुई टाँट वाले सांड खेतों में खड़े मठारने लगेंगे। आज के जैसी मूर्छा-उदासी-असहायता का नाम-निशान न रह जायगा। किसान के लिये चारों ओर आशा का नया संसार होगा। सभी के मन यदि संकल्पवान् होंगे तो गाड़ी अटक नहीं सकती। हमारे भारी-भरकम पोथों का ज्ञान भी छनकर किसान तक पहुंचेगा और उस भूमि के लिये उपयोगी होगा जिसके धन से वह सींचा गया है। हलधर मनोवृत्ति का फगुनहटा देहातों में बहेगा तो एक छोर से दूसरे छोर तक सभी कुछ नया रस पाकर लहलहाने लगेगा। देहातों को पैसा नहीं चाहिए, किसान का बलिष्ठ शरीर सकुशल बना रहे, वह धरती के साथ सतो होकर उसका कायापलट देगा।

धरती का कायाकल्प यही देहात की सबसे बड़ी समस्या है। आज धरती माता रूठ गई हैं। किसान धरती में पचता-मरता है पर धरती में उपज नहीं होती। बीज के दाने तक कहीं-कहीं धरती पचा जाती है। धरती से अन्न की चाहना करते हुए गाँव-गाँव के किसानों ने पड़ती जंगल जोत डाले, बंजर तोड़ते-तोड़ते किसानों के बैल थक गए, पर धरती अक्काबाई* की तरह न पसीजी और किसान की दरिद्रता बढ़ती चली गई। 'अधिक अन्न उपजाओ' का सुग्गा-पाठ किसान सुनता है। वह समझता है अधिक धरती जोत में लानी चाहिए। उसने बाग-बगिया के पेड़ काट डाले, खेतों को बढ़ाया, पर धरती ने अधिक अन्न नहीं उपजाया। अधिक धरती के लिये अधिक पानी चाहिए, अधिक खाद चाहिए। वह पहले से ही नहीं था, किसान की उलझन बढ़ गई, धरती की भूख-प्यास बढ़ गई। धरती रूठी है उसे मनाना होगा, वह रीती है उसे भरना होगा; तभी उसकी मिट्टी में से गेहूं के मक्खनफूल की इतराती हुई बालें निकलेंगी, तभी कनकजीरी धान के कंठों से निगरती हुई बालें अपने झूमा-झूलन से खेतों को भर देंगी, और तभी मोटे अन्नों की कनूकेदार भुटियों के दर्शन होंगे। धरती की भी अपनी कथा और व्यथा है, उसे सुनने और समझने वाले चाहिएँ। धरती से हम लेते रहे उसे दिया कुछ नहीं। अन्न के रूप में उसका सार खींचते रहे पर खाद से उसे पोसा नहीं। धरती को हम रीती करते रहे, फिर भरा नहीं। धरती केवल मिट्टी नहीं है, उसमें कीमिया भरी है, वही रसायन मिट्टी में से गेहूँ गन्ने का अमृत उपजाता है। गेहूँ को जैसी मिट्टी चाहिए, जौ को उससे दूसरी तरह की। आलू को मानने वाली पहाड़ी मिट्टी तेजाबी होती है, जौ को मानने वाली मैदानों की मिट्टी रेहाली या खारी। धरती में खारापन बढ़ जाय तब भी पौधे-पत्ती सूख जाती हैं, तेजाब का अंश बढ़े तो भी ठीक नहीं। धरती की नब्ज़ पहचानना ज़रूरी है। धरती का यह स्वास्थ्य या संतुलन खाद-पानी पर निर्भर है। धरती के विशेषज्ञ कान

* दरिद्रता की मराठी देवी।

लगाकर उसकी बात सुनते हैं, आत्मविश्वास के साथ उसकी कमी को पूरा करते हैं और मनचीता अन्न उत्पन्न करते हैं। हमारा किसानों का देश है, खेती हमारा राष्ट्रीय पेशा है, खेतिहर होना हमारे लिये सबसे गर्व की बात है। हम अच्छे खेतिहर बन सकें, इससे बढ़कर हमारे कल्याण की कोई बात नहीं है। हमारी पढ़ाई-लिखाई का आदर्श, रहन-सहन का आदर्श यही बनना चाहिए कि खेतिहरों की श्रेणी में हमारी गिनती हो हालैंड के एक सज्जन से एक दिन भेंट हुई। नाम था रीरिंक। री-ऋष्य या हिरन, और रिंक-रिंग या पट्टी, जिस हिरन की गर्दन में पट्टी पड़ी हो। नाम का अर्थ जानकर आत्मीयता बढ़ी। उसने बड़े आन-मान से कहा कि मैं धरती का विशेषज्ञ हूं, हमारा देश किसानों का है वही हमारा धन्धा है, हमारे पास कोयला और यंत्र नहीं; पर हमें अपनी खेती का गर्व है। बीस वर्षों से मैं भारत में काम कर रहा हूं। यहां भूमि का विज्ञान उन्नत होना चाहिए, भूमि-सम्बन्धी साहित्य (सोआएल सायंस और सोआएल लिटरेचर) बढ़ना चाहिए। 'अधिक अन्न उपजाओ' का अर्थ है हर बीघे में आज से सवाया-ड्योढ़ा अन्न उत्पन्न करना, नई भूमि को तोड़कर जोत में लाना नहीं। उसके लिये विशेष पानी, बीज, खाद और श्रम की आवश्यकता होगी। भूमि में डाला हुआ एक बीज आज यदि चालीस दाने उत्पन्न करता है तो ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि हर बाल में दानों की संख्या बढ़े और हर पूंजे में से विआस की संख्या बढ़े। यह अच्छे खाद से हो सकेगा। इसके लिये गोबर की तैयार की हुई खाद अनमोल है। गोबर की खाद मिट्टी के गड्ढों में डाल कर ठीक तरह से सड़ाई और तैयार की गई हो। साल भर पुरानी गोबर की खाद भूमि की सर्वोत्तम खूराक है। रीरिंक की बात ध्यान से सुनने और मानने लायक है।

हजारों बरसों से भारतीय किसान गोबर की खाद काम में लाते रहे हैं। गोबर मैला पानी सड़ै। तब खेती में दाना पड़ै॥ खेती करै खाद से भरै। सौ मन कौठिला से लै धरै॥ लेकिन खाद

तैयार करने का सही तरीका आज वे काम में नहीं लाते। खाद का नमकीन सारांश खेत में पहुँचने से पहले ही धुल जाता है। खाद शब्द 'खात' से बना है। खात का अर्थ गड्ढा। भूमि में खात या गड्ढा खोदकर उसमें गोबर-मिट्टी की तह-पर-तह चढ़ाकर बढ़िया खाद तैयार होती थी। उसमें थोड़ी मेहनत पड़ती है पर किसान के लिये वही सोना है। उसकी गाढ़ी कमाई में बरकत देने वाला पदार्थ खाद ही है। खाद परै तो खेत, नाहीं कूड़ा रेत। वही खेत, वही किसान, वही किसानी और वही बीज—पर एक बढ़िया खाद का रसायन पाकर धरती सोना उगलने लगती है। गाँव-गाँव में लाखों करोड़ों-खत्तों में खाद तैयार करने की सही परिपाटी डालनी चाहिए। एक भी किसान ऐसा न रहे जो खाद के सही तरीके को अमल में न लाता हो। सारा जनपद इसे अपने जीने-मरने का प्रश्न समझ कर इसे अपनावे। आज गाँव की कूड़ियों पर खाद का रत्न फेंककर हम उसकी ओर से आँखें मींच लेते हैं और बरसात बाद धुलकर जो बच रहता है उसे खेतों में जा पटकते हैं। वह खाद नहीं है, खाद की ठठरी अवश्य है। धरती उसे क्या माने और कैसे अपना काम चलावे? उसकी कोख में से जौ–गेहूँ के खूद और ईख के पोये जन्म लेते हैं, पर मरभुखे जैसे। उनमें तेज नहीं, तगड़ापन नहीं, हवा-पानी उन्हें बरदाश्त नहीं होती और प्रकृति के छोटे-मोटे परिवर्तन उन्हें घुड़क लेते हैं। पर यदि खाद को ठीक ढंग से गड्ढों में सड़ा-गला कर तैयार किया जाय तो वह तिजोरियों में जमा की हुई धनराशि की तरह मूल्यवान होगी और जिस भूमि को वह खूराक मिलेगी उसीमें नया चमत्कार पैदा होगा। कहा भी है कि झूठी खाद खाने वाला खेत दुबला रहता है, पर सड़ी खाद पाकर वही मुटा जाता है—मबर खेत जो जुट्ठी खाय। सड़ै बहुत तो बहुत मोटाय॥ धरती किसान से कहती है—जाओ, खेत में गोबर की खाद डालो और खेती का स्वाद देखो—

जाकर देखो गोबर खाद। तब देखो खेतों का स्वाद। भूमि की परविश किसान जीवन की बुनियाद है। गोबर की खाद के लिये गोधन की आवश्यकता होगी। गोधन के लिये चरावर धरती और खेतों में पैदा किये हुए चारे की जरूरत है। खेतों में अन्न-भूसे की कमी हुई तो जंगलों के भी खेत बना लिए गए। गाँव के पोहों के लिये चरने का ठिकाना न रहा तो किसान के लिये गोधन का रखना कठिन हो गया। गोधन के छीजने से एक ओर खाद का और दूसरी ओर घी-दूध का सिलसिला टूट गया। खाद के बिना धरती की मौत हुई और गोरस के बिना मनुष्य की देह सूख गई। यह क्रूर चक्कर है जिसकी कराल दाढ़ों के बीच में भारतीय किसान फँस गया है। धरती-खाद-गोधन-चरागाह एक ही लक्ष्मी के चार हाथ हैं। एक की कुशल दूसरे की कुशल के साथ गुथी हुई है। एक को भी हम सचाई से ठीक करने लगें तो दूसरे अंग उसी के साथ ठीक होने लगेंगे। गाँवों के कल्याण का संदेश ढीला पड़ा हुआ है। उसमें बिजली भरने की आवश्यकता है। हलधर मनोवृत्ति के प्रचार से शहर और गाँओं में किसान के जीवन के प्रति नई रुचि उत्पन्न होगी और संकल्पवान् चित्तों में नए कार्यक्रम का उदय होगा।*

---

*पुस्तक के विषय से सम्बन्धित यह लेख देर से प्राप्त होने के कारण परिशिष्ट रूप में यहां दिया जा रहा है। १६४० में लिखे हुए 'पृथ्वीपुत्र' लेख से आरम्भ कर १६४६ के 'धरती' लेख तक की लेखक की जनपदीय विचारधारा इस संग्रह में प्रदर्शित है। —प्रकाशक